अनुभव, स्थान और न्याय

गोपाल गुरु

अनुवाद : कमल नयन चौबे

इस लेख का शीर्षक दावा करता है कि इन तीन पदों में गहरा सह-संबंध है और वे आपस में मिल कर ही एक पूर्ण अर्थ का सृजन करते हैं। इसमें यह बताने की कोशिश भी है कि ये तीनों पद सिर्फ़ उपरोक्त अवधारणात्मक अनुक्रम में ही एक अर्थ का निर्माण करते हैं। शीर्षक यह भी बताता है कि अनुभव में अंतस्थ स्थान (स्पेस) की अवधारणा चिंतन के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के लिए स्रोत का काम करती है। जिस सीमा तक उपरोक्त शीर्षक यह बताता है, उस सीमा तक इसमें एक ज्ञानमीमांसीय दावा भी शामिल है। लेकिन, इस प्रस्ताव के ज़रिये मैं यह दावा नहीं कर रहा हूँ कि आदर्शवाद या भौतिकवाद जैसी अन्य विचार-सरणियों में चिंतन उत्पन्न करने की ज्ञानमीमांसीय क्षमता नहीं होती। विचार के इन तंत्रों में ज़ाहिरा तौर पर युग-प्रवर्तनकारी क्षमता है। लेकिन मुश्किल यह है कि चिंतन का यह सार्वभौम चरित्र किसी विशिष्ट स्थिति की जटिलताओं और उसमें मौजूद ख़ास वास्तविकता को पूरी तरह पकड़ने में शायद ही समर्थ होता हो। मसलन, मार्क्स के पास वस्तुओं या घटनाओं को समझने के सार्वभौम सिद्धांत थे जिनके ज़रिये उन्होंने भारतीय यथार्थ की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। भारतीय विद्वानों ने भी इन सिद्धांतों को भारतीय स्थिति पर

लागू करने का प्रयास किया। फिर भी, इनमें से बहुत से विद्वान स्वीकार करते हैं कि हमारी सामाजिक हक़ीक़त को उसकी समस्त जटिलताओं के साथ उजागर करने में मार्क्स के इन सिद्धांतों की भूमिका सीमित ही रही है।

अनुभव का सैद्धांतिक बाना पहले से तैयार नहीं किया जा सकता। सरल शब्दों में कहा जाए तो अनुभव के सिद्धांत को अपनी चिंतनपरक प्राप्ति के लिए उस समय तक इंतज़ार करना पड़ता है जब तक वह अनुभव ख़ुद प्रथम पुरुष-अनुभव नहीं बन जाता। इसे दूसरे तरीक़े से कहा जाए तो सिद्धांतकार बेशक सिद्धांत-निर्माण का काम हाथ में ले सकता है, परंतु इसके लिए उसे किसी व्यक्ति या सामाजिक समूह के अनुभव के वस्तुनिष्ठ प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी। कहने का मतलब यह है कि सिद्धांत की चिंतनपरक प्राप्ति की सम्भावना मुख्यत: अनुभव के संदर्भ में ही पैदा होती है। यह अनुभव ही सिद्धांत-निर्माण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह पृष्ठभूमि दो स्तरीय हो सकती है : वस्तुनिष्ठ (भौतिक) और व्यक्तिनिष्ठ (ज्ञानमीमांसीय)। इस लेख में मेरा आग्रह यह है कि अनुभव की प्राप्ति तो आत्मगत होती है लेकिन उसका सृजन स्थान के वस्तुनिष्ठ तर्क द्वारा सम्पन्न होता है। ऐसे में, अनुभव के इस सैद्धांतिक प्रस्तुतीकरण में आनुभाविक स्थान मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। इसलिए मैं यहाँ एक और बात कहना चाहता हूँ कि अवधारणात्मक सामीप्य के धरातल पर हासिल चिंतनपरक प्राप्ति ख़ुद उस अनुभव पर निर्भर करती है जो एक ख़ास स्थान में अभिव्यक्त (कई बार हिंसक ढंग से) होता है। मेरा एक और तर्क यह है कि अनुभव का उत्पादन स्थान के पुनरुत्पादन पर निर्भर करता है। अर्थशास्त्रीय, औपनिवेशिक या विमर्शी अक्षों के इर्द-गिर्द रचित स्थान में अनुभव के विखण्डित रूप उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए मैं इस लेख में दूसरा तर्क यह दूँगा कि समय बीतने के साथ स्थानों की विचारधारात्मक पुन:संरचना विभिन्न रूपों में अनुभव की स्थिरता और निरंतरता को बढ़ाती है। तीसरा, यह सच है कि दुश्मन या उत्पीड़क ही अनुभव का जनक होता है। लेकिन वह इस अनुभव को अपनी मर्ज़ी से पैदा नहीं कर सकता। दरअसल, उत्पीड़क को उत्पीड़न का अनुभव पैदा करने के लिए कुछ निश्चित सहायक स्थितियों की आवश्यकता होती है। उत्पीड़न के अनुभव को ताक़तवर पक्ष बहुधा हथियार की तरह इस्तेमाल करता है। इस तरह, उत्पीड़क के लिए यह अनुभव जहाँ प्रभुत्व क़ायम करने वाली राजनीतिक स्थिति की भूमिका निभाता है, वहीं सिद्धांतकार इसका उपयोग सिद्धांतीकरण के साधन या यंत्र के रूप में करता है। लेकिन इन दोनों ही कोशिशों में यह एक बात समान होती है कि ये दोनों ही पीड़ित के वस्तुकरण की बिना पर सफलता हासिल करते हैं।

लेफ़ेब्र से सूत्र लेते हुए मैं इस लेख में दलील दूँगा कि उत्पीड़क को यह आवश्यक स्थिति स्थान से ही मिलती है। वह बाद में स्थान का उपयोग एक ऐसा ख़ास अनुभव पैदा करने के लिए करता है जिससे पीड़ित व्यक्ति नैतिक रूप से पंगु हो जाए। उत्पीड़क स्थान को एक ऐसा मनमाफ़िक रूप देता है जिसके माध्यम से पीड़ित पर उसका वर्चस्व और प्रभुत्व पूरी तरह क़ायम हो सके। वह प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए स्थानों का उपयोग करते हुए अभूतपूर्व हिंसा का सहारा लेता है। या फिर कई मरतबा अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए स्थानों का प्रयोग इस तरह करता है कि पीड़ित उत्पीड़क के प्रतीकात्मक संसार में आंशिक तौर पर समाहित हो जाए। मसलन, कोई उत्पीड़क किसी दलित या स्त्री को सांस्कृतिक स्थान में समायोजित करने की कोशिश में उस स्त्री को प्रतीकात्मक स्तर पर लक्ष्मी देवी के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है, भले ही वास्तविक जीवन में सम्पत्ति पर उसका कोई हक़ न हो। इसी तरह, वह एक अछूत को वैश्वीकरण के दौर में एक सुधी उपभोक्ता का तमगा पहना सकता है, भले ही वह अछूत व्यक्ति भुखमरी से ग्रस्त हो। विभिन्न स्थानों में सत्ता के एक प्रभावकारी रूप में व्याप्त वर्चस्व की यह स्थिति व्यक्ति के वस्तुकरण— किसी को 'अंकल टॉम' (दब कर रहने वाला व्यक्ति) या 'घमडया' (दब कर रहने वाले व्यक्ति के लिए मराठी शब्द) कहने पर निर्भर करती

है। उत्पीड़क स्थान का उपयोग मनुष्य को घृणास्पद बनाने के लिए भी करता है। मसलन, मुम्बई का मध्यवर्ग जर्जर झुग्गियों में रहने वाले लोगों के साथ ऐसा बरताव करता है, मानो वे चलती-फिरती गंदगी हों। बहरहाल, 'पीड़ित' हमेशा इस दासता की स्थिति में नहीं रहते। दरअसल, वे स्थानों को ऐसा नया रूप देना चाहते हैं ताकि उत्पीड़क या अवमानना पैदा करने वाले किसी भी अर्थ को उनसे अलग किया जा सके। सच्चाई यह है कि प्रभुत्वशाली लोगों की वर्चस्ववादी राजनीति के कारण ही यह अर्थ पीड़ित के साथ चस्पाँ किया जाता है। पीड़ित इस स्थान की समतावाद के पक्ष में नयी पुनर्रचना और पुनर्विन्यास करता है। अगले खण्ड में मैं यह तर्क प्रस्तुत करूँगा कि पीड़ित व्यक्ति द्वारा सामूहिक गोलबंदी के लिए अपनायी गयी रैडिकल भाषा के पीछे इसी स्थान से जुड़ा हुआ अनुभव काम करता है। ग़ौरतलब है कि स्थानों में रद्दोबदल करने, उन्हें ख़त्म करने या उनका अतिक्रमण करने के लिए यह रैडिकल भाषा लाज़मी होती है। इस भाषा के बिना ऐसे स्थानों का वर्चस्व तथा उनमें निहित भेदभाव बरकरार रहता है।

लेफ़ेब्र तर्क देते हैं कि प्रभुत्वशाली स्थान निश्चित रूप से बंद होते हैं। इस तरह के स्थान पर क़ब्ज़ा जमाने या उससे बाहर निकलने के लिए आवश्यक है कि पीड़ित लोग सिर्फ़ उसी अनुभव को अपनाएँ जो इन स्थानों में निहित है। लेकिन साथ ही उस अनुभव को अमूर्त भाषा द्वारा और गहराई भी देनी होगी। दूसरे शब्दों में, पीड़ित लोग ख़ुद को पहले प्रभुत्वशाली स्थानों के भीतर मौजूद दास-पहचान के संदर्भ में पहचानते हैं और फिर इससे आगे जाने की कोशिश करते हैं। ख़ुद को सक्रिय या चिंतनक्षम एजेंसी के रूप में खोजने का मतलब अनुभव का सृजन करना है, न कि उस अनुभव का स्वामी होना। इस तरह पीड़ितों द्वारा आत्म का यह संधान उनकी सांस्कृतिक या बौद्धिक गोलबंदी की माँग करता है। गोलबंदी के ये रूप कुछ निश्चित क़िस्म की नैतिक और राजनीतिक श्रेणियों— गरिमा, आत्मसम्मान, आज़ादी, समानता और सामाजिक न्याय का स्पर्श करके या फिर स्थान के पुनर्विन्यास की राजनीति के तुलनात्मक महत्त्व से भिड़ कर ही सम्भव हो पाते हैं। इस शोध-पत्र में मैं आगे यह तर्क दूँगा कि आत्मसम्मान और गरिमा की भाषा की तरफ़ जाने की सम्भावना दासता के अनुभव से पीड़ित लोगों में ही ज़्यादा होती है। स्थानों को नये सिरे से गढ़ने, ख़त्म करने या उनसे मुक्त होने की क्षमता पात्र को वह तर्क मुहैया कराती है जिसके दम पर वह अपने अनुभव को स्थानिक और बौद्धिक गहनता देने के लिए एक नयी तरह की और ज़रूरी अवधारणात्मक शब्दावली का इस्तेमाल कर सकता है। आम्बेडकर द्वारा दलितों की और गाँधी द्वारा किसानों की बौद्धिक/राजनीतिक गोलबंदी इस तरह की गहनता का प्रमाण पेश करती है। लेख के अगले हिस्से में मैं यह बात और विस्तार से रखूँगा कि गाँधी इस तर्क (नैतिक) को परम्परा के भीतर ढूँढ़ते हैं, तो दूसरी ओर ऐसा लगता है कि आम्बेडकर आंतरिक (बौद्ध धर्म या कबीर या ज्योतिराव फुले जैसी विविध परम्पराओं से) और बाहरी (आधुनिक और शायद पश्चिमी)। दोनों ही तरीक़ों में तर्क-बुद्धि (रीजन) का प्रयोग निहित है। जहाँ तक जन-गोलबंदी की बात है, ये दोनों ही चिंतक नैतिक (गाँधी के मामले में) और राजनीतिक (आम्बेडकर के मामले में) श्रेणियों के निर्माण में अनुभव के साथ स्थान का भी प्रयोग करते हैं। दोनों ही विचारक अपने सामाजिक क्षेत्रों में अलग-अलग श्रेणियों के साथ जाते हैं जो उनके अलग-अलग अनुभवों से उत्पन्न हुई हैं। निश्चित रूप से इन दोनों का टकराव उन स्थानों से होता है जो उनकी मुक्तिदायी योजना के विरोध में हैं। स्पष्ट है कि गाँधी की योजना में स्थानों को सुधारना और उनके वजूद को दोबारा हासिल करना शामिल है, जबकि आम्बेडकर इन स्थानों को रैडिकल ढंग से अपदस्थ करना चाहते हैं। हम आगे यह देखेंगे कि दोनों मामलों में यह किस तरह घटित होता है।

ऊपर के वर्णन से यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि इस शोध-पत्र के शीर्षक में एक ख़ास तरह का ज्ञानमीमांसीय दावा किया जा रहा है। इस शोध-पत्र में यह तर्क दिया गया है कि अनुभव के बारे में सृजनात्मक चिंतन या इसके सैद्धांतिक प्रस्तुतीकरण के लिए अनुभव ही एक शुरुआती ज्ञानमीमांसीय

स्थिति उपलब्ध कराता है। अनुभव और स्थान के बीच की मध्यस्थता से उभरने वाली श्रेणियों में एक विशिष्ट तर्क को मज़बूती देने की प्रवृत्ति होती है। इसके आख़िरी भाग में हम देखेंगे कि गाँधी ने विभिन्न समूहों के बीच एकजुटता लाने के लिए 'सेवा' की श्रेणी का प्रयोग किया। इसे वे एक ख़ास स्थिति अर्थात् 'भारत की आज़ादी' हासिल करने के लिए आवश्यक मानते थे। दूसरी ओर, आम्बेडकर ने आत्मसम्मान की श्रेणी का उपयोग किया। यह श्रेणी 'बहिष्कृत भारत' (बहिष्कृत यानी अछूत लोगों का भारत) से आगे प्रबुद्ध भारत (प्रबोधित लोगों के भारत) की ओर जाने पर ज़ोर देती है। गाँधी का तर्क यह है कि भारत की पुनर्रचना अलग तरह से होनी चाहिए। उनके विचारों में सामने आने वाली पुनर्रचना की प्रकृति अनैतिहासिक और मिथकीय है। दूसरी ओर, आम्बेडकर के तर्क में यह बात निहित है कि वे भारत की पुनर्रचना एक ऐसे रैडिकल अंदाज़ में करना चाहते हैं जो उसके वर्तमान स्वरूप से क़तई अलग हो। उनका यह तर्क बुनियादी रूप से ऐतिहासिक है। उसमें इस बात की स्वीकृति है कि बहिष्कृत भारत कुछ ख़ास तरह की सामाजिक प्रक्रियाओं का नतीजा है जो सामाजिक प्रभुत्व की ऐतिहासिक ताक़तों के ज़रिये अपना वजूद क़ायम रखती हैं। यह तर्क इस बात पर भी ज़ोर देता है कि प्रबुद्ध भारत निरीश्वरवादी/नास्तिक परम्परा (हेटरोडॉक्स ट्रेडिशन) के आलोचनात्मक विवेक से पैदा होता है। बहरहाल, गाँधी और आम्बेडकर में एक बात समान है। दोनों अनुभव को ही ज्ञानमीमांसा और आम लोगों की विचारधारात्मक/राजनीतिक गोलबंदी का शुरुआती बिंदु मान कर चलते हैं। गाँधी ने खुद के साथ और दूसरों के साथ प्रयोग किये। इस तरह आम्बेडकर और उनके समुदाय का अनुभव गाँधी के प्रयोग की वस्तु बन गया। दूसरी ओर आम्बेडकर अनुभव के सत्तामीमांसक रूप से जुड़े हुए थे जो उनके भीतर एक जातिग्रस्त समाज के उच्च पदस्थ उत्पीड़कों द्वारा भरा गया था। गाँधी ने इसी कारण ऊँची जाति के उत्पीड़कों के साथ काम करने का फ़ैसला किया। उनका यह फ़ैसला सही था। गाँधी और आम्बेडकर, दोनों ने ही कुछ नैतिक/राजनीतिक श्रेणियों का निर्माण किया। आम्बेडकर ने इनका प्रयोग सामाजिक शुद्धीकरण के लिए किया। गाँधी ने इनका प्रयोग इसलिए किया ताकि वे लोगों को आत्मिक शुद्धीकरण के लिए प्रेरित कर सकें। बहरहाल, गाँधी और आम्बेडकर— दोनों ही प्रेरक श्रेणियों को पूर्व-सिद्ध (अ-प्रायरी) नहीं मानते थे। शायद गाँधी से ज़्यादा आम्बेडकर इस बात पर ज़ोर देते थे कि सामाजिक गतिशीलता की अंत:दृष्टि और स्थानीय स्तर पर सामाजिक यथार्थ की रचना करने वाले महीन ब्योरों का परीक्षण ही ज्ञान का आधार होना चाहिए। गाँधी और आम्बेडकर के विचारों से कुछ सूत्र लेते हुए यह तर्क दिया जा सकता है कि कुछ लोगों को सार्वभौम सिद्धांत का अमूर्त रूप बहुत गहराई से ललचाता है, लेकिन सार्वभौम सिद्धांत का यह ख़ास गुण आम्बेडकर या गाँधी को आकर्षित नहीं कर पाया। इन दोनों विचारकों की श्रेणियों का निर्माण और उनका हुलिया उनके विस्तृत ज्ञान से उपजा था। परंतु उनका ज्ञान महज़ किताबी नहीं बल्कि संदर्भ के अनुभव से दीप्त था। इन दोनों विचारकों ने सामाजिक सच्चाइयों और भारत को अपने देश-व्यापी भ्रमण के ज़रिये समझा था। गाँधी और आम्बेडकर ने आनुभविक स्थानों की विस्तृत और गहरी जाँच-पड़ताल की थी, किंतु उन्होंने इस आधार पर कोई सारतत्त्ववादी सार्वभौम सिद्धांत पेश करने से परहेज़ किया। समकालीन भारत में बहुत से टीकाकार अब गाँधी और आम्बेडकर, दोनों के ही विचारों का सार्वभौमीकरण करने की कोशिश कर रहे हैं। पर वे अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ख़ास तौर पर गाँधी के वैचारिक विकास में अनुभव की बुनियादी भूमिका रही है। हालाँकि आम्बेडकर की श्रेणियों की जड़ें अज्ञेयवादी (एगनॉस्टिक) ज़मीन में देखी जा सकती हैं लेकिन उनका वजूद वहीं तक सीमित नहीं है।

चिंतन की ऐसी बहुत सी रूपरेखाएँ हैं जिनकी शुरुआत सार्वभौम सिद्धांत से होती है। मसलन, आदर्शवादी (कांट और हीगेल) एक पूर्व-सिद्ध सिद्धांत से शुरुआत करते हैं या फिर भौतिकवादी विचारक (मार्क्स) एक संदर्भ से जुड़ी अनुभवसिद्ध हक़ीक़त (फ्रांस का गृहयुद्ध आदि) को

ब्राह्मणों ने अछूतों को थूकने के लिए अपने गले में मिट्टी का बर्तन बाँधने और अपने पदचिह्न मिटाने के लिए कमर से झाड़ू लटका कर चलने के लिए मजबूर कर दिया था। उन्नीसवीं सदी के पूना में अछूतों को साफ़ ताक़ीद की गयी कि वे सुबह या शाम के वक़्त पूना की सड़कों पर नहीं चल सकते। उन्हें इन सड़कों पर सिर्फ़ दोपहर और रात में ही चलने की अनुमति थी। ये पाबंदियाँ इसलिए आयद की गयी थीं क्योंकि ऊँची जातियों के लोग केवल उनके स्पर्श या उपस्थिति को ही प्रदूषणकारी नहीं मानते थे बल्कि उनकी परछाईं को भी अपवित्र मानते थे। लिहाज़ा यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्नीसवीं सदी में अछूतों को मानवीय अंत:क्रिया के नक़्शे से पूरी तरह मिटा दिया गया था। इस सभ्यतामूलक संहार के लिए अछूतों की छाया का इस्तेमाल किया गया। इस छाया को मिटा कर यह सुनिश्चित किया गया कि मनुष्य के रूप में अछूत किसी दूसरे मनुष्य का स्पर्श न कर पाएँ या कोई दूसरा मनुष्य किसी भी तरह से उनका स्पर्श न कर पाए।

सार्वभौमिक रूप से पेश करने की कोशिश करते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि सार्वभौम सिद्धांत से शुरुआत करने के कारण उनमें विचारों के सृजन की ज्ञानमीमांसीय क्षमता नहीं होती। वास्तव में यह बात तो हम सभी स्वीकार करते हैं कि सार्वभौम चिंतन की इन धाराओं ने अपने तात्कालिक स्थान का अतिक्रमण किये बिना ही विचारों के क्षेत्र में युगांतरकारी व्यवस्थाओं को जन्म दिया है। मसलन, मार्क्स और हीगेल में से कोई भी भारत नहीं आया, लेकिन वे भारत के बारे में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त करते हैं। पर हम यह भी अनुभव करते हैं कि चिंतन का यह सार्वभौम चरित्र एक जटिल और निश्चित परिस्थिति के यथार्थ विशेष को पकड़ने में ज़्यादा समर्थ नहीं होता है।

इसी तरह कुछ विद्वान यह मानते हैं कि चिंतन की उत्तर-औपनिवेशिक रूपरेखा में कमी यह है

कि वह भारत के राष्ट्रवादी चिंतन को मुकम्मल तौर पर समझने के लिए स्थान की श्रेणी को अहमियत नहीं देती। लेकिन, उत्तर-औपनिवेशिक चिंतन की यह आलोचनात्मक पड़ताल इस बात को पूरी तरह स्वीकार करती है कि राष्ट्रवादी दौर के भारतीय राजनीतिक चिंतन पर युरोपीय ज्ञानोदय की छाया (डेरिवेटिव इम्पैक्ट) के अनावरण में यह सिद्धांत काफी उपयोगी रहा है। लेकिन मैं राष्ट्रवादी चिंतन के बारे में उत्तर-औपनिवेशिक विश्लेषण से आगे जाकर यह तर्क देना चाहता हूँ कि एक व्याख्यात्मक श्रेणी के रूप में स्थान भारतीय हक़ीक़त के विविध आयामों की अच्छी समझ क़ायम करने में ज़्यादा मददगार हो सकता है। मनु गोस्वामी पार्थ चटर्जी के एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का हवाला देते हुए यह दावा करती हैं कि अपनी समस्त वांछनीयता के बावजूद इस तरह का हस्तक्षेप इसलिए पर्याप्त नहीं लगता क्योंकि चटर्जी ने राष्ट्रवादी चिंतन और उसकी गतिकी की जैसी आलोचना की है वह अपनी सामग्री के लिहाज़ से युरोपीय परम्परा पर बहुत ज़्यादा निर्भर करती है। इसलिए गोस्वामी की यह दलील काफ़ी पुख़्ता लगती है कि भारत पर औपनिवेशिक प्रभाव की पूरी समझ के लिए हमें स्थान की अवधारणा पर भी ध्यान देना चाहिए।

एक ख़ास अर्थ में चटर्जी के बारे में उनकी यह आलोचना सही है। लेकिन जिसे वे चटर्जी के लेखन की सीमा बताती हैं, वह खुद उनकी तर्क-योजना पर भी लागू होता है। मैं स्थान और अनुभव के अपने विश्लेषण में यह दिखाऊँगा कि गोस्वामी जिस अर्थ में स्थान का प्रयोग करती हैं उसमें अनुभव की हक़ीक़त से जुड़े सभी संदर्भ बिंदु शामिल नहीं होते हैं। दूसरा, गोस्वामी का यह कहना सही है कि स्थान का उपयोग एक केंद्रीय श्रेणी के रूप में किया जाना चाहिए लेकिन इस संबंध व स्थान के बारे में हेनरी लेफ़ेब्र के प्रसिद्ध लेखन से कुछ चुनिंदा विचारों को ही पेश कर पाती हैं। मसलन, लेफ़ेब्र से सूत्र लेते हुए गोस्वामी स्थान को औपनिवेशिक राज्य और भारतीय समाज के बीच बने सामाजिक संबंधों के रूप में चिह्नित कर उसे नये सिरे से परिभाषित करती हैं। और एक बार फिर लेफ़ेब्र के लेखन को आधार बनाते हुए यह दलील देती हैं कि स्थान को एक साथ कार्रवाई का मुख्य क्षेत्र और कार्रवाई का आधार होना चाहिए। इस बात में किसी शक़ की गुंजाइश नहीं है कि यह दलील औपनिवेशिक राज्य के ख़िलाफ़ राष्ट्रवादी कार्रवाई की समझ के लिए बहुत ही उपयोगी है। लेकिन लेफ़ेब्र के विचारों के इस अधिग्रहण की मुख्य सीमा यह है कि वह औपनिवेशिक राज्य की 'परोपकारी शासक' वाली आत्म-समझ को सिर्फ़ सत्ता के औपनिवेशिक विन्यास के भीतर ही चुनौती देना चाहती है। इससे सत्ता के स्थानीय विन्यास के तहत बहुत से सामाजिक समूहों को प्रताड़ित करने वाले स्थानीय शासकों को बहुत ज़्यादा छूट मिल जाती है। ज्योतिराव फुले ने इन स्थानीय शासकों को 'सेठजी और भाटजी' की संज्ञा दी थी। दूसरी ओर, आम्बेडकर ने इन्हें ब्राह्मणसाई और भाण्डवाल साई (ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद) की संज्ञा दी थी। सत्ता के इस स्थानीय विन्यास की गतिकी का भारतीय सामाजिक चिंतन के निर्माण में एक निश्चित प्रभाव रहा है, जिसे कुछ सामाजिक समूहों की स्थानिक अवस्थिति से उपजे अनुभवों के ज़रिये बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। लेफ़ेब्र से एक अन्य सूत्र लेते हुए इसे और विस्तार से स्पष्ट किया जा सकता है। लेफ़ेब्र, और निश्चित रूप से फ़ूको भी, यह मानते हैं कि आनुभविक स्थान सिर्फ़ भूगोल या ख़ाली तटस्थ स्थान नहीं होता, बल्कि वह एक संस्कृतिकृत (कलचरलाइज़्ड) परिघटना है। इसलिए वह मुख्यत: एक ऐसी परिघटना है जो यह बताती है कि लोगों को सीमित, बंद और विभाजित जगहों में रख कर कैसे नियंत्रित किया जाए। इस आलेख में मेरा तर्क यह है कि स्थान की यही संकल्पना भारत में बीसवीं सदी के प्रारम्भिक सामाजिक चिंतन में ज्ञानमीमांसीय भूमिका निभाती है। मैं अपने तर्क को मज़बूती देने के लिए उन विद्वानों के विचारों से कुछ सूत्र लूँगा जो उदारतावाद और साम्राज्य के अंत:संबंध को समझने के लिए स्थान को एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी मानते हैं। मसलन, उदय मेहता और शंकर भास्करन के लेखन में कुछ ऐसे आवश्यक सूत्र चिह्नित किये जा सकते हैं जिनसे साम्राज्य की परिघटना के आस-पास विकसित हुए भू-क्षेत्र और उदारतावादी

चिंतन के बीच की कड़ी को समझा जा सकता है।

लेख के अगले हिस्सों में मेरा तर्क यह रहेगा कि विचार के विकास की ज्ञानमीमांसीय स्थितियाँ ख़ुद-ब-ख़ुद स्थान की उत्पत्ति नहीं करतीं। दरअसल, स्थान केवल उसी स्थिति में ज्ञानमीमांसीय सम्भावना पैदा कर सकता है जब उसके साथ अनुभव का तत्त्व जुड़ा हो। यही नहीं, विविध स्थानों में अंतस्थ अनुभव की भिन्नता के आधार पर एक ख़ास तरह का विचार एक विशिष्ट प्रकृति और अनुक्रम भी हासिल कर लेता है। मसलन, महाराष्ट्र के ज्योतिराव फुले और दक्षिण के पेरियार रामास्वामी नायकर जैसे ग़ैर-ब्राह्मण चिंतकों की स्थानिक अवस्थिति ने उनका जाति पर आधारित भेदभाव के ऐसे अनुभवों से साबका कराया, जिससे राजनीतिक के ऊपर सामाजिक को वरीयता देने के हालात बने। इस तरह अनुभव स्थान में एक तरह की गतिशीलता पैदा कर देता है। गतिशील स्थान या स्थानों की गतिशीलता नयी और पुरानी अवधारणाओं के आपसी संबंधों पर सवाल खड़े करती है। नये और पुराने स्थानों का तनाव इस ओर संकेत करता है कि पुराने स्थान नयी अवधारणाओं का डट कर मुक़ाबला करते हैं। लिहाज़ा, स्थान की गतिशील प्रकृति स्थिर स्थानों की मानकीय

आम्बेडकर इस बात का विश्लेषण करना चाहते हैं कि सामाजिक स्थान का एक ख़ास तरह से पुनर्निर्माण करके जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को किस तरह मानवीय अंत:क्रिया के दायरे से ही बाहर कर दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया की समझ के लिए आम्बेडकर 'खण्डित आदमी' (ब्रोकेन मैन) के सिद्धांत का विकास करते हैं।

सीमाओं की ओर इशारा करती है और साथ ही मुक्ति की एक नयी शब्दावली की सैद्धांतिक सम्भावना भी मुहैया कराती है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह नयी भाषा सामान्यत: बाहर से लाई गयी तर्क-बुद्धि के कारण पुनर्विन्यस्त पुराने स्थानों से उत्पन्न होती है। भारत के संदर्भ में स्थान का पुनर्विन्यास करने वाली यह आवश्यक स्थिति साम्राज्य के उदारतावाद से पैदा होती है। और इसी बिना पर स्थानों में कई सारी अवधारणाओं का मार्ग प्रशस्त होता है। ख़ुद आम्बेडकर को यह लगता है कि उदारतावाद के दख़ल से दलितों के बीच परम्परा द्वारा बताए गये सच को अपदस्थ किया जा सकता है और इसकी मदद से उनमें नये सच को खोजने के लिए आलोचनात्मक ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है। आम्बेडकर के अनुसार, चूँकि नये सच में परम्परा शामिल नहीं होती इसलिए लोगों को इसे स्वीकार करने में वक़्त लगता है। यह बात उस सच पर लागू नहीं होती है जिसमें परम्परा शामिल होती है। ख़ासतौर पर लोग जाति-व्यवस्था के आसपास रचित सामाजिक प्रक्रियाओं से उभरने वाले सच को ज़्यादा आसानी से स्वीकार करते हैं। जाँच और खुद पर संदेह करने की उदारतावादी चेतना लोगों को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वे पदानुक्रमीय स्थानों में अपनी स्थिति के बारे में सवाल करें। यह चेतना लोगों को ऐसे नये स्थानों की कल्पना करने के लिए भी प्रेरित करती है जो उन्हें ज़्यादा समतावादी जीवन देने का वायदा करते हों। भारत के कुछ अनुभवों के आधार पर यह बात ज़्यादा मज़बूती से कही जा सकती है। इस संदर्भ में मैं ख़ास तौर पर भारत के पश्चिमी भाग के उदाहरण पर विचार करूँगा। इसका कारण यह है कि दूसरे भागों की तुलना में मैं इस भाग से थोड़ा ज़्यादा परिचित हूँ। अपने तर्कों का विकास करते वक़्त मैं ख़ास तौर पर उदय मेहता (*लिबरलिज़म ऐंड एम्पायर*) और रमन शंकरन (*फ्रेमिंग इण्डिया, वॉयेज़*) की किताबों के संदर्भ का प्रयोग करूँगा। दोनों लोग साम्राज्य की परिघटना

के आस-पास विकसित हुए भू-क्षेत्र और उदारतावादी चिंतन की आपसी कड़ी समझने के लिए आवश्यक सूत्र उपलब्ध कराते हैं। इस परचे में लेफ़ेब्र के शोध को आधार बना कर यह तर्क दिया गया है कि विचार और अवधारणाएँ अपने-आप प्रमुखता हासिल नहीं करतीं। सच्चाई यह है कि उनकी यह गुरुता स्थानों की प्रकृति पर निर्भर करती है। ख़ासतौर पर भारत जैसे संदर्भ में, जहाँ स्थानों की व्यवस्था पदसोपानीय है, वहाँ इस तरह के स्थान से संस्कृतीकरण की अवधारणा अनिवार्यतः उत्पन्न होगी। यदि स्थान तुलनात्मक रूप से खुले हुए हैं तो उनसे एक अलग तरह की शब्दावली पैदा होगी। इस तरह की शब्दावली में पश्चिमीकरण, व्यक्तिवाद, नागरिक समाज, गरिमा और आत्म-सम्मान आदि जैसे शब्द शामिल होंगे। यदि ये स्थान औपनिवेशिक हैं तो उनसे एक अलग शब्दावली सामने आयेगी, जिसमें राष्ट्रवादी साँचे के भीतर स्वशासन और आज़ादी जैसे शब्दों को जगह दी जाएगी। स्थानों को विशेष महत्त्व देने या उन्हें पवित्र मानने से ऐसी अवधारणाएँ सामने आती हैं जो एक तरह से सम्प्रभु हो जाती हैं। मसलन, राष्ट्रवादी स्थान को 'भारत माता' का रूप प्रदान करने से राष्ट्रवादी स्थान पवित्र बन कर किसी भी तरह की पड़ताल या आलोचना से परे चला जाता है। इस तरह की निर्मिति स्वशासन और आज़ादी जैसी सम्प्रभु शब्दावली की जगह किसी दूसरे क़िस्म की शब्दावली को दुश्मन मान लेती है। इस तरह दलित दृष्टिकोण से उभरने वाली आत्म-सम्मान और सामाजिक न्याय की शब्दावली को इस पवित्र स्थान के विरुद्ध मान लिया जाता है।

इसलिए भारतीय संदर्भ में सम्प्रभु अवधारणा के रूप में हमारे पास स्वशासन की अवधारणा है। विचारों को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए एक ज्ञानमीमांसीय पूर्व-शर्त यह है कि पारम्परिक रूप से प्रभुत्वशाली स्थानों (जैसे, अग्रहार) को ख़त्म किया जाए और उन्हें खुले स्थानों में तब्दील किया जाए। दरअसल, ये प्रभुत्वशाली स्थान अपनी परिभाषा के हिसाब से ही बंद और सख़्त होते हैं (प्लेटो के 'डार्क होल' का व्युत्क्रम)। लेकिन स्थानों के खुले होने भर से विचार अपने-आप पैदा नहीं हो जाते। दूसरे शब्दों में, सिर्फ़ इन विचारों में शामिल विमर्शी अंतर्वस्तु के आधार पर इन श्रेणियों की व्याख्यापरक क्षमताओं का विस्तार नहीं किया जा सकता है। दरअसल, विचारों का प्रभावी विस्तार उन स्थानों की तरलता और लचीलेपन पर निर्भर करता है जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से विखण्डित लोग रहते हैं। इसलिए आधुनिक विचारों का प्रसार स्थानों के प्रसार से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। भारतीय संदर्भ में आम्बेडकर के सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन ने स्थानों की जड़ता तोड़ कर उनका विस्तार किया। ये स्थान शुद्धता और दूषण के विचारों से भरे पड़े थे। यहाँ इन स्थानों की जड़ता तोड़ने की बात इस अर्थ में कही जा रही है कि हिंदू पुजारियों द्वारा इन स्थानों का कर्मकांडीय शुद्धीकरण पहले ही किया जा चुका था। आम्बेडकर के अनुसार स्थानों को बाहरी संकटों और प्रभाव से मुक्त करने का यह उपक्रम दो कारणों से ऐतिहासिक ज़रूरत बन जाता है। पहला, ऐसा करना इसलिए ज़रूरी है ताकि हिंदू समाज के विभिन्न तबकों की संवेदना स्पर्श की जा सके। दूसरे यह इसलिए भी ज़रूरी है ताकि ऊँची जातियों के हिंदुओं को पारस्परिक सम्मान, सामाजिक न्याय और समानता जैसे आदर्शीकृत मूल्यों में निहित तर्क-बुद्धि की कड़वी खुराक द्वारा उनकी 'एकायामी कल्पना' भंग की जा सके। संक्षेप में, यह एक अर्थ में बेनेडिक्ट ऐंडरसन के इस विचार के अनुरूप ठहरता है कि आधुनिकता बंद समाजों को ज़्यादा समतावादी बना डालती है। आधुनिक शब्दावली अपनाने के पीछे आम्बेडकर का मक़सद निश्चित रूप से यह था कि वे ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद के रूप में शक्ति के दो ध्रुवों के आस-पास बने स्थानीय विन्यास (या संरचना) पर हमला करना चाहते थे। सत्ता के स्थानीय विन्यास की इस गतिकी और उससे उपजे अनुभव का भारत के सामाजिक चिंतन पर असंदिग्ध प्रभाव पड़ा है। इस बात को लेफ़ेब्र द्वारा प्रतिपादित आनुभविक स्थान की श्रेणी के संदर्भ में ज़्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। लेफ़ेब्र यह तर्क देते हैं कि वास्तव में स्थान को गहराई में, द्विरूपण, प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्ब के रूप में अनुभव किया जाता है। लेफ़ेब्र यह तर्क देते हैं कि

'स्थान मेरा शरीर है और फिर यह मेरे शरीर का प्रतिपक्ष है या अन्य, यह मेरी आईने की छवि है या छाया'। यह विचार एक अछूत व्यक्ति के शरीर की छाया समझने के लिए पूरी तरह से प्रासंगिक है। हम इस बात को ख़ास तौर पर अट्‌ठारहवीं सदी के पूना (महाराष्ट्र) के समाज और सामाजिक असमर्थताओं के संदर्भ में देखेंगे कि अछूत का शरीर— दैहिक सत्व और उसकी छाया— दोनों ही तरह से एक स्थान के तौर पर दोहरी चीज़ बन जाता है। अछूत का शरीर और उसकी छाया— दोनों एक साथ मिलकर अछूत के लिए अपमान का अनुभव पैदा करते थे। पेशवा के शासन के दौरान यह माना जाता था अछूत की छाया भी गंदगी पैदा करती है। इस तरह, स्थान को सामाजिक रूप से प्रभुत्वशाली जातियों के पक्ष में तय करने में वास्तविक और परावर्तित— दोनों ही पहलू समान रूप से शक्तिशाली हो गये। इस तरह इस आलेख का लक्ष्य लेफ़ेब्र के सूत्रों से परे न जाकर उन्हें भारत पर लागू करके देखना है। इसलिए प्रस्तुत लेख को एक अनुपूरक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है लेफ़ेब्र और फ़ूको आनुभविक स्थान को एक सांस्कृतीकृत परिघटना मानते हैं। इसका ख़ास सरोकार इस बात से है कि लोगों को सीमित, बंद और विभाजित स्थानों में रख कर कैसे नियंत्रित किया जाए। मैं यहाँ तर्क दूँगा कि भारत में बीसवीं सदी की शुरुआत में उभरे राजनीतिक चिंतन में स्थान की इस संकल्पना की एक गहरी ज्ञानमीमांसीय भूमिका रही है। लेफ़ेब्र के विचारों का इस्तेमाल करते हुए मैं आगे यह तर्क दूँगा कि स्थान की सबसे गहरी आनुभविक
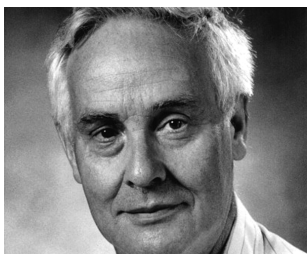
शेयर बाज़ार ने आम्बेडकर की दक्षता को कोई जगह नहीं दी और न ही उसकी तारीफ़ की। सिर्फ़ अछूत होने के कारण उन्हें इस बाज़ार से तक़रीबन बाहर फेंक दिया गया। भारत में प्रिंट मीडिया ने राष्ट्र की कल्पना को साकार करने के बजाय (प्रोफ़ेसर बेनेडिक्ट ऐंडरसन माफ़ करें क्योंकि भारत की जाति व्यवस्था ने आपकी अवधारणा को ठेंगा दिखा दिया है)। भारत के संदर्भ में वित्तीय स्थान और सामाजिक स्थान परस्पर-व्यापी थे।

प्रस्तुति उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में होती है। स्थान एक सांस्कृतिक रूप से निर्मित परिघटना है। किसी स्थान का निर्माण या पुनर्निर्माण किसी सामाजिक समूह द्वारा की गयी निश्चित कार्रवाई का नतीजा होता है। अपने ऐतिहासिक प्रभुत्व के आधार पर यह वर्ग साभ्यतिक हिंसा का सहारा लेकर पीड़ित समूहों पर वर्चस्व कायम करता है। अमूमन हिंसा स्थान की एक ख़ास तरह से पुनर्रचना करना चाहती है। मसलन पितृसत्ता निजी और सार्वजनिक स्थानों को एक ख़ास तरह से बनाती है। यह महिलाओं के लिए सम्प्रभुता का बहुत छोटा दायरा तय करती है। इसलिए महिलाओं की सम्प्रभुता सिर्फ़ रसोईघर तक सीमित कर दी जाती है। इस संदर्भ में विद्वान अक्सर रवींद्रनाथ ठाकुर की रचना *घरे बायरे* का उद्धरण देते हैं। स्त्रियों को डरा-धमका कर निजी स्थानों तक सीमित कर देना एक अपरोक्ष क़िस्म की हिंसा की ओर संकेत करता है। रोचक बात यह है कि पित्तृसत्ता इस हिंसा का प्रभाव बेअसर करने के लिए विचारधारा का प्रयोग करती है। फिर भी, मेरा यह तर्क है कि ये रूप सभ्यतामूलक हिंसा को पूरी तरह परिभाषित नहीं करते। जाति आधारित हिंसा मुख्यत: दलितों द्वारा अनुदार स्थानों की सीमाओं के अतिक्रमण से जुड़ी है। यह बात साबित करने के लिए हम भारत के सामाजिक इतिहास से असंख्य उदाहरण ले सकते हैं। इसका सबसे हालिया उदाहरण महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ क्षेत्र का खैरलांजी गाँव है जहाँ मध्यवर्ती जातियों के लोगों द्वारा दलितों की हत्याएँ की गयीं। दलितों की हत्या इसलिए की गयी कि वे पदसोपानीय सीमाओं का उल्लंघन कर रहे थे। हिंसा को इस आधार पर परिभाषित किया जाता है कि हिंसा का शिकार हुआ व्यक्ति एक साथ 'मौजूद' और

'ग़ैरमौजूद' रहता है। किसी की शारीरिक हस्ती को मिटा देने वाली शरीरिक हिंसा सभ्यतामूलक हिंसा की परिभाषा की आधी शर्त को पूरा करती है। यह एक विडम्बना है कि अछूत समझे जाने वाले कुछ समूहों को सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों से ख़ारिज कर देना ही इस सभ्यतामूलक हिंसा की पारिभाषिक शर्त बन जाता है।

मैं आम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित भारत में अछूतों के ऐतिहासिक विकास की सामाजिक समझ की मदद से इस बात की व्याख्या करना चाहता हूँ। आम्बेडकर इस बात का विश्लेषण करना चाहते हैं कि सामाजिक स्थान का एक ख़ास तरह से पुनर्निर्माण करके जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को किस तरह मानवीय अंत:क्रिया के दायरे से ही बाहर कर दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया की समझ के लिए आम्बेडकर 'खण्डित आदमी' (ब्रोकेन मैन) के सिद्धांत का विकास करते हैं। आम्बेडकर यह दलील देते हैं कि बुनियादी रूप से सभी मनुष्य गहन जंगलों और पहाड़ों पर रहते थे। मैदानों में बस जाने के बाद ही उनका जाति समूहों में बँटवारा हुआ। ये जाति समूह बहुत ही सख़्त क़िस्म की शुद्धता और दूषण की विचारधारा के इर्द-गिर्द संगठित थे। मैदानों में खेती की खोज हो जाने के बाद अतिरिक्त अनाज का उत्पादन होने लगा। अतिरिक्त उत्पादन पर नियंत्रण की चाह के कारण कुछ लोग इस पर क़ब्ज़ा जमाने लगे। अतिरिक्त उत्पादन पर अपना क़ब्ज़ा सही साबित करने के लिए इन लोगों को शारीरिक या वैचारिक ताक़त की आवश्यकता पड़ी। आम्बेडकर बताते हैं कि द्विजों ने ब्राह्मणवादी विचारधारा का प्रयोग करके पहले तो अछूतों की श्रेणी का निर्माण किया और बाद में उनका अनाज की लूट और बर्बादी करने वाले बर्बरों के ख़िलाफ़ अवरोधक के तौर पर इस्तेमाल किया। शुद्धता और दूषण की विचारधारा का प्रयोग करके अछूतों को गाँव के मुख्य भाग से बाहर कर दिया गया। आम्बेडकर इन्हें ही 'खण्डित आदमी' कहते हैं। इसका एकमात्र अर्थ यह है कि ग्रामीण व्यवस्था और अतिरिक्त खाद्यान्न की व्यवस्था का विकास सहवर्ती घटनाएँ हैं। खण्डित लोगों को मुख्य गाँव से बाहर कर दिया गया। इनमें से जो लोग ज़्यादा लड़ाकू थे उन्हें और भी ज़्यादा दूर जंगलों में निष्कासित कर दिया गया। गाँव के अपेक्षाकृत नज़दीक बसे लोगों की यह ज़िम्मेदारी थी कि वे गाँव के लोगों को सम्भावित हमले की चेतावनी देकर उन्हें सावधान करें और जान की बाज़ी लगाकर जंगली जानवरों और 'बर्बर' लोगों से मुख्य गाँव की हिफ़ाज़त करें। इस तरह सामाजिक और सांस्कृतिक दूरी क़ायम रखने के लिए समय-समय पर एक विस्तृत विचारधारा का विकास किया जाता रहा। दूसरी कारीगर जातियों के अछूतों को सिर्फ़ एक निश्चित समय के दौरान ही गाँवों में आने की इजाज़त थी। उन्हें ताक़ीद थी कि वे अधिकांश समय अपनी अँधेरी दुनिया (ब्लैक होल) (अपने छोटे 'घेटो') में रहेंगे और इस तरह एक दायरे तक सिमटे रहने वाले अछूत बने रहेंगे, जिनके बारे में दूसरों को बहुत कम जानकारी होगी (मनुष्यों को देखना और अनुभव करना तथा उनके सृजनशीलता की तारीफ़ करना भी सभ्यता का एक हिस्सा है)। उनसे यह भी उम्मीद की जाती थी कि वे सम्पर्क से दूर रहेंगे (किसी भी सभ्यता की निरंतरता के लिए भाषा मुख्य ऊर्जा उपलब्ध कराती है)। अछूतों को द्विजों के ऊपरी हिस्से के लिए या प्लेटो के शब्दों में दार्शनिक राजा के लिए हर वक़्त यह सब करना होता था। न्याय के प्लेटोवादी या अरस्तूवादी विचार का प्रयोग करते हुए यह कहा जा सकता है कि अछूतों के लिए न्यायपूर्ण बात यह थी कि वे अपनी अँधेरी दुनिया (ब्लैक होल) तक सिमटे रहें। उनका मुख्य काम यह था कि वे गाँव के ब्राह्मणों की सेवा करें। वे दूसरी सेवक वाली जातियों के साथ मिलकर ब्राह्मणों के लिए उत्पादन करते थे। ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि अछूत खाद्यान्न उत्पादन के अलावा द्विजों के ऊपरी हिस्से की बाहरी हमलों से भी सुरक्षा करते थे। ज़्यादा स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि अछूतों ने द्विजों के ऊपरी भाग की सुरक्षा के लिए 'शॉक एब्ज़ार्वर' (पीड़ा-हारी) की भूमिका निभाई, जो अरस्तूवादी संदर्भ में पूरी तरह से 'सेल्फ़ एब्ज़ार्वर' (आत्म-शोषक) थे।

अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्र के पूना शहर में पेशवा के शासन पर विचार करने

से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि अछूतों को एक अँधेरी दुनिया (ब्लैक होल) में क़ैद करके रखा गया था। जैसा कि बहुत सारे विद्वानों ने दर्ज किया है अछूतों को नियमित समय और स्थान से बाहर धकेल दिया गया या फिर उन्हें खण्डित समय और स्थान तक ही सीमित कर दिया गया। सामाजिक स्थान में उनकी गतिविधियों पर पाबंदियाँ लगाने के लिए कट्टर वैचारिक साँचों का इस्तेमाल किया गया। उन्नीसवीं सदी के दौरान पूना में पेशवा के रूढ़िवादी ब्राह्मण शासन ने अछूतों पर तरह-तरह के सामाजिक प्रतिबंध लगाकर उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक अंत:क्रिया से वंचित कर दिया। विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच चलने वाली सामान्य मानवीय अंत:क्रियाएँ सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण भाग होती हैं। लेकिन अछूतों पर थोपी गयीं इन पाबंदियों ने उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से अपंग बना दिया गया। इस तरह, उन्नीसवीं सदी के पूना में अछूतों को साफ़ ताक़ीद की गयी कि वे सुबह या शाम के वक़्त पूना की सड़कों पर नहीं चल सकते। उन्हें इन सड़कों पर सिर्फ़ दोपहर और रात में ही चलने की अनुमति थी। ये पाबंदियाँ इसलिए आयद की गयी थीं क्योंकि ऊँची जातियों के लोग केवल उनके स्पर्श या उपस्थिति को ही प्रदूषणकारी नहीं मानते थे बल्कि उनकी परछाईं को

फ़ूको भी यह मानते हैं कि आनुभविक स्थान सिर्फ़ भूगोल या ख़ाली तटस्थ स्थान नहीं होता, बल्कि वह एक संस्कृतिकृत (कल्चरलाइज़्ड) परिघटना है। इसलिए वह मुख्यतः एक ऐसी परिघटना है जो यह बताती है कि लोगों को सीमित, बंद और विभाजित जगहों में रख कर कैसे नियंत्रित किया जाए।

भी अपवित्र मानते थे। लिहाज़ा यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्नीसवीं सदी में अछूतों को मानवीय अंत:क्रिया के नक़्शे से पूरी तरह मिटा दिया गया था। इस सभ्यतामूलक संहार के लिए अछूतों की छाया का इस्तेमाल किया गया। इस छाया को मिटा कर यह सुनिश्चित किया गया कि मनुष्य के रूप में अछूत किसी दूसरे मनुष्य का स्पर्श न कर पाएँ या कोई दूसरा मनुष्य किसी भी तरह से उनका स्पर्श न कर पाए। इस तरह कर्मकांडीय दूषण से बचने के लिए छाया का विचार चाहे कितना भी कारगार हो, परंतु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे समय और भौतिक स्थानिकता की ज़रूरत पड़ती है। (एक अछूत की) छाया अपने-आप में ख़ाली या रिक्त न होकर एक शक्तिशाली स्थान होती है, जो ऊँची जाति के किसी व्यक्ति के शरीर की गतिविधियों को नियंत्रित कर सकती है। सार्त्र के मुहावरे में कहें तो छाया ऊँची जाति के ब्राह्मण के लिए एक ऐसा अस्त्र होती है जो अंतत: उसी को आकर लगता है।

एक दूसरे संदर्भ में छाया प्रामाणिकता और गरिमा या आत्म-सम्मान को परिभाषित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जो लोग दूसरों की छाया में चलना पसंद करते हैं वे इसे ज़रूरी नहीं मानते कि खुद को दूसरों की छाया के बाहर खोजें। छाया का विचार बहुत ही रोचक लगता है और इस पर विस्तार से विचार किये जाने की आवश्यकता है। लेकिन मैं यहाँ इसकी तफ़सील में न जाकर सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूँ कि छाया कम-से-कम विमर्शी स्तर पर तो लोगों को ज्ञानमीमांसीय रूप से उच्चतर महसूस करने का मौक़ा ज़रूर देती है। मसलन, आधुनिक भारत में भूदेव मुखोपाध्याय जैसे राजनीतिक विचारक खुद को ज्ञानमीमांसीय स्तर पर ज़्यादा बेहतर मानते थे क्योंकि उन्हें अपना चिंतन पश्चिमी चिंतन की काली ज्ञानमीमांसीय छाया लगता था। इसके विपरीत, जैसा कि उदय मेहता ने अपने लेखन में दिखाया है, पश्चिमी चिंतकों ने भी भारतीय चिंतन का उपयोग काली ज्ञानमीमांसीय

छाया के रूप में किया। इससे उन्हें इस बात की संतुष्टि मिली कि उनका चिंतन सही रास्ते पर है और शायद भारतीय चिंतन से बेहतर है। इससे भारतीय संदर्भ में छाया को तत्त्वमीमांसीय स्तर पर भूत या काले जादू जैसी नकारात्मक शक्ति मिल गयी जिसके दम पर कोई व्यक्ति या पूरा गाँव ख़ुद को शैतानी शक्तियों से मुक्त रख सकता था।

पूना के उन्नीसवीं सदी के इस संदर्भ यह नतीजा निकाला जा सकता है कि दोतरफ़ा बंदिशों की इस कार्रवाई में ब्राह्मणों ने अछूतों को थूकने के लिए अपने गले में मिट्टी का बर्तन बाँधने और अपने पदचिह्नों को मिटाने के लिए कमर से झाड़ू लटका कर चलने के लिए मजबूर कर दिया था। परंतु इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि बाद में पूरे देश में ब्राह्मणों ने ब्रिटिश चिंतकों के पदचिह्नों का ही अनुसरण किया, लेकिन सत्ता की स्थानीय संरचना में अछूतों को अपने पदचिह्न मिटाने के लिए मजबूर किया। उन्होंने आम्बेडकर के दार्शनिक पदचिह्न को मिटाने की कोशिश की, जिसके बारे में आगे थोड़े विस्तार से चर्चा की गयी है। इस तरह, ऐसा लगता है कि पेशवा के शासन ने आज की बायोमेट्रिक तकनीक के शुरुआती रूप का निर्माण कर लिया था। ग़ौरतलब है कि वर्तमान दौर में राज्य ने अपनी जनसंख्या पर ज़्यादा गहराई से नज़र रखने के लिए बायोमेट्रिक तकनीक का विकास किया है। पेशवा के शासन के दौरान स्थान की अवधारणा ने अछूतों के अपमान को और घना बना दिया। एक तरफ तो उसने अछूतों को सामाजिक स्थान के एक दायरे तक सीमित कर दिया, और दूसरी तरफ उनके शरीर पर सांस्कृतिक प्रतीकों को जड़ कर उन्हें 'लेजिबल' (या स्पष्ट) बना दिया। इस तरह, शरीर को एक ऐसे सांस्कृतिक स्थान में तब्दील कर दिया गया जिस पर ब्राह्मणवादी व्यवस्था शासन और नियंत्रण कर सकती थी। उन्नीसवीं सदी में पेशवा शासन ने पूना में ठीक वही रास्ता अपनाया जैसा औपनिवेशिक राज्य ने उच्च जाति के आम लोगों के लिए तजवीज़ किया था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने सिर्फ़ सामाजिक स्थान पर ही शासन नहीं किया, बल्कि उसने अछूत की देह को एक सांस्कृतिक स्थान में बदलकर अछूतों को ऐसी स्थिति में धकेल दिया कि वे दिन के समय भी अपने अँधेरे से बाहर न आ सकें। इसलिए आम्बेडकर यह तर्क देते हैं कि अछूतों के साथ 'लकड़बग्घे' की तरह बरताव किया गया, जो अछूतों की तरह ही निशाचर होते हैं। वे सिर्फ़ रात के समय अपने घरों से बाहर आते हैं। इस तरह अछूत गाँव के चौकीदार की तरह रात में ही सम्प्रभु होते थे। स्थान के संदर्भ में वे उस समय भी सम्प्रभु होते थे, जब वे अपनी अँधेरी दुनिया (डार्क होल) के दायरे में क़ैद होते थे। यह अँधेरी दुनिया हुलगरी या चेरी, महार या माँगवाड़ा या चमार टोला के रूप में होती थी। इसलिए भारत के गाँव में दो स्थान थे : एक पारस्परिक रूप से जुड़ा हुआ अग्रहार (शुद्धतावादी आंतरिक) और दूसरा सांस्कृतिक रूप से विच्छिन्न चेरी अछूत घेटो (अशुद्ध बाह्य)। सार्वभौम सम्प्रभु अर्थात् अग्रहार और विशिष्ट सम्प्रभु (दलितवाड़ा) के शक्ति-संबंधों को बेबी कांबले की आत्मकथा में बेहद दमदार तरीक़े से पेश किया गया है।

बेबीताई की आत्मकथा से पता चलता है कि पवित्र (अग्रहार) और अपवित्र (अछूत 'घेटो') के रूप में स्थान का यह विचारधारात्मक विभाजन उनके पिता की देह पर भी किया गया था। उनके पिता की देह सम्प्रभुता के दो निपट अलग दायरों को परिभाषित करती थी। जैसा कि ऊपर बताया गया है ये दो दायरे अग्रहार और दलित 'घेटो' के रूप में विद्यमान थे। जब वे मुख्य गाँव से गुज़रते थे तो अपनी पीठ झुका कर (कूबड़ निकालकर) और नीचे ज़मीन पर देखते हुए चलते थे। निश्चित रूप से इस 'देह-भाषा' ने गाँव के संदर्भ में सम्प्रभुता की सार्वभौम अवधारणा को अपना लिया था। उनके पास बोलने की शक्ति थी, लेकिन उनकी इस वाक् शक्ति की जगह घंटियों की आवाज़ ने ले ली थी। ये घंटियाँ उनकी लाठी के ऊपरी सिरे पर बँधी होती थीं। महार लोग जब भी गाँव के लोगों की सेवा के लिए बाहर निकलते थे, तो वे इसी तरह की लाठी लेकर चलते थे। घंटियों की आवाज से मुख्य गाँव के लोगों को यह पता चल जाता था कि एक अछूत व्यक्ति आ रहा है। इस तरह, शब्दों से होने

वाले अभिव्यक्ति-कार्य (स्पीच ऐक्ट) की जगह संकेत-भाषा स्थापित हो गयी। जब उनके पिता अपना काम निपटा कर दलितवाड़े (दलित घेटो) में वापस लौटते थे, तो उनका शारीरिक हाव-भाव पूरी तरह बदला होता था। अब वे अपनी गर्दन सीधी रखते थे, छाती फुला कर चलते थे और उनकी आँखें ऊपर आकाश की ओर रहती थीं। इस शारीरिक हाव-भाव से पता चलता है कि दलितवाड़े (या घेटो) के भीतर उन्हें अपनी सम्प्रभुता का एहसास रहता था। सम्प्रभुता के इस दायरे के भीतर वे सिर्फ़ अपनी आज़ादी का ही लुत्फ़ नहीं उठाते थे, बल्कि उन्हें इस बात से भी ख़ुशी मिलती थी कि उनकी स्थिति दूसरे अछूत लोगों से उच्चतर है। यह शारीरिक हाव-भाव सेवक की सम्पूर्ण परिभाषा की अभिव्यक्ति करता है। ऐसा सेवक अपने मालिक के आदेशों का पालन करने के लिए पूरी तरह तैयार रहता है और अपने लोगों की बेइज़्ज़ती या उपेक्षा बहुत आसानी से कर देता है। आम्बेडकर ने सम्प्रभुता के दो दायरों को खत्म करने और सार्वभौम सम्प्रभुता पर दलित-अधिकार स्थापित करने के लिए संघर्ष किया। उनका यह संघर्ष पवित्र स्थानों का उल्लंघन करने के सामाजिक आंदोलन से जुड़ा हुआ था।
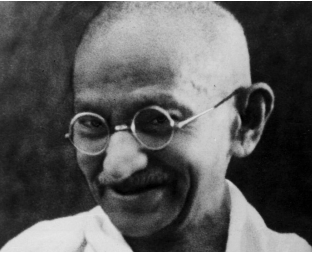
गाँधी और आम्बेडकर में एक बात समान है। दोनों अनुभव को ही ज्ञानमीमांसा और आम लोगों की विचारधारात्मक/राजनीतिक गोलबंदी का शुरुआती बिंदु मान कर चलते हैं। गाँधी ने ख़ुद के साथ और दूसरों के साथ प्रयोग किये। इस तरह आम्बेडकर और उनके समुदाय का अनुभव गाँधी के प्रयोग की वस्तु बन गया।

बेबी के पिता की स्थिति से पता चलता है कि स्थान का आत्मनिष्ठता के साथ बेहद पेचीदा संबंध होता है। सामाजिक संबंध अछूतों की आत्मनिष्ठता सीमित करते थे। जब अछूत इस तरह के संबंधों पर प्रतिक्रिया करते तो खुद उनका व्यक्तिकरण (सब्जेक्टिफ़िकेशन) हो जाता था। भारतीय सभ्यता की यही प्रकृति थी। इसने शक्ति के स्थानीय विन्यास के तर्कशास्त्र के हिसाब से जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को निशाचर लकड़बग्घे में तब्दील कर दिया था। ऐसे में, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे सभ्यतामूलक हिंसा के अपने एकपक्षीय अध्ययन को छोड़ कर एक ऐतिहासीकृत या 'सम्यक' दृष्टिकोण अपनाएँ ताकि उन्हें सभ्यता के बारे में वॉल्टर बेंजामिन का कथन स्वीकार करने में दिक्कत न हो। बेंजामिन के अनुसार, 'सभ्यता का हर दस्तावेज़ बर्बरता की किताब होती है।' यह एक रोचक बात है कि सभ्यता के इसी पहलू ने गाँधी को ज़्यादा आत्म-चिंतन करने के लिए प्रेरित किया। इसी कारण उन्होंने अपनी परम्परा के बारे में ज़्यादा आलोचनात्मक रुख अख़्तियार किया और आम्बेडकर को अपने अंत:करण का रक्षक माना। मैं यह तर्क देने जा रहा हूँ कि पवित्र और अपवित्र स्थान के इस विभाजन ने बीसवीं सदी के भारत में गाँधी और आम्बेडकर के विचारों की शक्ल गढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस परचे के दूसरे भाग में मैं यह तर्क भी दूँगा कि गाँधी और आम्बेडकर, दोनों ने ही परम्परा पर आलोचनात्मक नज़रिये से विचार किया था। लेकिन उन दोनों की आलोचना का स्तर अलग-अलग था। भारत की कल्पना तथा उसकी मुक्ति के लिए की गयी जन-गोलबंदी में दोनों ने अलग-अलग तरह की श्रेणियों का इस्तेमाल किया। मसलन, गाँधी के चिंतन में (नैतिक और राजनीतिक) स्वशासन की श्रेणी एक सम्प्रभु दृष्टिकोण बन गयी। दूसरी ओर, आम्बेडकर ने आत्मसम्मान और सामाजिक न्याय की श्रेणियों को ज़्यादा महत्त्व दिया जो गाँधीवादी कल्पना की सीमाओं की ओर संकेत करती हैं। इस परचे का मुख्य तर्क अनुभव की उस अवधारणा से जुड़ा हुआ है जिसे स्थान के सांस्कृतिक निर्माण में अभिव्यक्ति मिलती है।

इसलिए मैं यह तर्क भी दूँगा कि आचार और अनुभव, ख़ासतौर पर दूसरों के अनुभवों ने गाँधी के विचारों के निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। दूसरी ओर, आम्बेडकर के विचारों के निर्माण में प्रामाणिक अनुभव की सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। गाँधी ने ख़ुद को दूसरों के अनुभवों से जोड़ने की कोशिश की। इसी कारण उन्होंने चिंतन के अलग-अलग रूपों को अपनाया। मसलन, खुद को अछूतों के साथ जोड़ने के लिए गाँधी ने सेवा जैसी नैतिक श्रेणी पेश की। गाँधी सेवा, ट्रस्टीशिप, देखभाल और सहयोग जैसी नैतिक और इसलिए अ-संज्ञानात्मक श्रेणियों का उपयोग ऐतिहासिक अनुमान तैयार करने के लिए करते हैं। इन श्रेणियों को लोगों के राजनीतिक व्यवहार से वैधता मिलती है। अनुभवों के उत्पादन और पुनर्रुपादन के कारण आम्बेडकर के भीतर एक सत्तामीमांसीय घाव बन गया। इसी कारण आम्बेडकर ने आत्मसम्मान, सामाजिक न्याय और समतावाद जैसी बिल्कुल ही अलग तरह की श्रेणियों का विकास किया। आम्बेडकर के लिए अनुभव की श्रेणी ज्ञानमीमांसा का प्राथमिक स्रोत थी। इसी आधार पर उन्होंने वैकल्पिक कल्पना और मुक्ति की राजनीति की एक अलग श्रेणी का निर्माण किया। इसलिए हमें गाँधी के विपरीत आम्बेडकर के चिंतन में एक दूसरे को काटने वाली बहुत सारी श्रेणियाँ मिलती हैं : मानुष्की (आत्म-सम्मान), मनखंडना (अवमानना), परुषाकुर्त (सुव्यवस्थित), बहिष्कुर्त (सामाजिक रूप से बहिष्कृत), अधिकार, सेवा, श्रम, वेतबेगारी (बेगार काम) और आखिर में सामाजिक न्याय-अन्याय। उनके विचारों का निर्माण करने वाली श्रेणियों के समुच्चय में मैं केवल तीन अवधारणाओं पर ही ध्यान केंद्रित करूँगा : सामाजिक न्याय, आत्मसम्मान और राष्ट्र। मैंने इन तीन अवधारणाओं का चुनाव इसलिए किया है क्योंकि ये स्थान और अनुभव या अनुभव और स्थान का एक नया पाठ पेश करती हैं। दूसरी बात यह है कि ये अवधारणाएँ खुद अनुभव की अवधारणा से तय होती हैं, और जो ख़ुद सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से बने स्थानों में समाहित होता है। आगे के भागों में मैं इस बात की विस्तार से विवचेना करूँगा कि सामाजिक न्याय, आत्म-सम्मान और राष्ट्र की अवधारणाओं तथा आनुभविक स्थान का आपसी संबंध किस तरह का है।

आम्बेडकर औपनिवेशिक आधुनिकता के दबाव के कारण उभरे आधुनिक सामाजिक स्थान में बेहद ज़बरदस्त सैद्धांतिक और राजनीतिक सम्भावनाएँ देखते थे। औपनिवेशिक आधुनिकता की अपनी बहुत सारी सीमाएँ थीं। लेकिन इसमें आधुनिकीकरण की एक अलग या फिर कहें, उसकी राह को आसान बनाने वाली कई प्रक्रियाएँ शामिल थीं। औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिक शिक्षा जैसी प्रक्रियाओं ने दलितों को इस बात का हौसला दिया कि वे अपने कटु और अपमानजनक अनुभवों के लिए ज़िम्मेदार सामाजिक शक्तियों पर सवाल उठाए। मार्क्स जैसे दूसरे आधुनिकतावादियों की तरह ही आम्बेडकर यह मानते थे कि ये स्थान अछूतों के बीच नये तरह के अनुभव पैदा करेंगे क्योंकि जाति आधारित पारम्परिक पदसोपान (हायरार्की) आधारित स्थानों के ख़ात्मे के बाद सेकुलर पदसोपानों को बढ़ावा मिलेगा जो जाति की जगह क्षमता पर आधारित होंगे। इसलिए आम्बेडकर अवसर के स्थानों की पुनर्संरचना में दलित-गरिमा के पुनरुत्थान की सम्भावना देखते हैं। इस तरह आम्बेडकर की दृष्टि में अवसरों के स्थान की पुनर्रचना में दलितों की गरिमा और न्याय की प्रतिष्ठा सम्भव थी। इस बात को समुचित अवसर के मुहावरे में परिभाषित करना इसलिए ज़रूरी था ताकि दलित मुक्ति के नये अनुभव से दो-चार हो सकें। आम्बेडकर का यह भी मानना था कि आधुनिकीकरण की अन्य प्रक्रियाओं के साथ-साथ शहरीकरण भी अछूतों को अपनी सीमित 'अँधेरी दुनिया' से निकलने का अवसर देगा। आम्बेडकर इसे अछूतों के लिए बहुत ही ज़रूरी प्रक्रिया मानते थे। (आम्बेडकर के अनुसार जाति पर आधारित गाँव की व्यवस्था 'अँधेरी दुनिया' या 'डार्क होल' का प्रतिनिधित्व करती है)। हम इस बात को पहले ही रेखांकित कर चुके हैं कि पारम्परिक गाँवों में ऊँची जातियों के सामाजिक/सांस्कृतिक जीवन में अछूतों को 'चलती-फिरती नैतिक महामारी' के रूप में देखा जाता था। आम्बेडकर को लगता था कि शहरीकरण अछूतों को इस 'घुटन भरे' स्थान से मुक्ति दिलाएगा।

उनका यह भी मानना था कि शहरीकरण से पैदा होने वाली अजनबियत के कारण अछूतों को ऊँची जाति के हाथों होने वाले अपमान से भी मुक्ति मिल जाएगी। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि शहरीकरण से पैदा होने वाली गुमनामी को एक इच्छित विकल्प इसलिए माना गया क्योंकि वह अछूतों को अपनी देह से मुक्त व्यक्ति होने के अलावा इस बात का मौक़ा भी देता था कि वे दूसरे लोगों के साथ समान आधार पर अपना सामाजिक मेलजोल और व्यवहार क़ायम कर सकें।

बहरहाल, खुद आम्बेडकर के समय में भी जिस तरह का शहरीकरण हुआ उसने उनके सपने पूरे नहीं होने दिये। कई सालों के बाद भी उनका सामना उसी महारवाड़ा से हुआ, जिसे बहुत पहले वे अपने गाँव में पीछे छोड़ आये थे। भारत के अधिकांश आधुनिक शहरों में एक तरह से गाँवों का सामाजिक ढाँचा ही जारी रहा। इन शहरों में बम्बई जैसा बड़ा शहर भी शामिल था। आम्बेडकर और उनका परिवार बीडीडी सीमेंट चाल में रहता था। यहाँ पर महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र से आये अछूत रहते थे। ये इलाक़े और मज़दूरों के चाल भी जाति के आधार पर संगठित होने लगे थे। कई मरतबा उपजाति भी संगठित होने के लिए आधार का काम करती थी। यह तस्वीर सिर्फ़ मुम्बई की नहीं थी। कानपुर जैसी दूसरी कई जगहों पर इसी तरह की स्थिति थी। सूज़न बेली के अनुसार शहरीकरण की प्रक्रिया ने जाति की सीमाओं को पहले की तुलना में कहीं ज़्यादा कठोर बना दिया। कानपुर के अपने

लेफ़ेब्र यह तर्क देते हैं कि वास्तव में स्थान को गहराई में, द्विरूपण, प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्ब के रूप में अनुभव किया जाता है। वे तर्क देते हैं कि 'स्थान मेरा शरीर है और फिर यह मेरे शरीर का प्रतिपक्ष है या अन्य, यह मेरी आईने की छवि है या छाया'। यह विचार एक अछूत व्यक्ति के शरीर की छाया समझने के लिए पूरी तरह से प्रासंगिक है।

अध्ययन में नंदिनी गुप्तु ने दिखाया है कि ग्रामीण उत्तर प्रदेश से कानपुर आने वाले अछूतों को किसी-न-किसी तरह से सामाजिक रूप से अलग-थलग पड़े बाड़ों (या घेटो) तक सीमित कर दिया गया था। ऐसी जगहें गाँवों के बाहर बनी उन बस्तियों से अलग नहीं थीं जिन्हें वे अपने पीछे छोड़कर शहरों में आये थे। औपनिवेशिक दौर में जो अछूत बम्बई जैसे शहरों में आये, उन्हें भी धारावी जैसी झुग्गियों या माटुंगा लेबर कैम्प जैसे स्थानों में ही जगह मिल पायी। मालाबार हिल (बम्बई के अमीरों की कॉलोनी) के क़रीब बसी इन बस्तियों को कूड़े के ढेर से भी बदतर माना जाता था। मालाबार हिल के अभिजन अछूतों को शरीर पर लगी गंदगी से अलग नहीं मानते थे। यह माना जाता था कि अछूत और चलती-फिरती गंदगी दोनों एक ही चीज हैं। इस तरह, चलती-फिरती गंदगी का यह लगातार उत्पादन और पुनर्रुत्पादन सत्तामीमांसा के स्थानिक पहलू का बयान करता है। इस तरह 'चलती-फिरती गंदगी' के रूप में अछूत की दैहिक छवि उसके सामाजिक स्थान से बँधी हुई थी। दरअसल, अछूत पर जिस 'चलती-फिरती गंदगी' होने का अनुभव चस्पाँ किया गया था वह स्थान की जड़ स्थिति के कारण मजबूती से क़ायम रहा। दूसरे अछूतों के साथ आम्बेडकर ने भी इस जड़ और ठहरे हुए स्थान के अनुभव को झेला था। यह इस अर्थ में जड़ था कि ग्रामीण स्थान की तरह ही शहरी स्थान भी अछूतों की गरिमा के ख़िलाफ़ था। यहाँ भी शर्म की भावना के बग़ैर अछूत सार्वजनिक स्थानों पर नहीं जा सकते थे। शहरों में रहने वाले ऊँची जातियों के लोगों के मन में छुआछूत की भावना गहरे रूप में बैठी हुई थी। उन्होंने भी अछूतों को कोई ऐसा नैतिक लाभ हासिल नहीं होने दिया कि वे ख़ुद को 'चलती-फिरती गंदगी' के अलावा कुछ और भी महसूस कर सकें और उनमें इस बात का एहसास जाग सके

कि शरीर में ऐसा भी कुछ है जो इन जड़ स्थानों से ज़्यादा बेहतर हो सकता है।

बीसवीं सदी के शुरुआती दौर की बम्बई का मेरा अपना अध्ययन यह दिखाता है कि शहरी पूँजी और औपनिवेशिक पूँजी की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के परिणामस्वरूप लाल बाग परेल इलाक़े की मज़दूर बस्तियाँ भी जाति के आधार पर संगठित होने लगी थीं। इस मामले में औपनिवेशिक या स्थानीय पूँजी ने भी इस बात में कोई रुचि नहीं ली कि शहरी स्थानों को समतावादी आधार पर पुन: रचा जाए। दरअसल, हम यह देख सकते हैं कि सामाजिक स्थान में जातिगत अधिकार पहले की तरह क़ायम रहे। चालों या कपड़ा मिलों के कुछ भागों को इसके उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। ये शहरी स्थान भी छुआछूत की बुराइयों से प्रभावित हो गये। तीसरे दशक के शुरुआती दौर में बम्बई की कपड़ा मिलों में मध्यवर्ती जाति के कामगारों (मराठा) ने अछूतों और आम्बेडकर को लगातार उनकी मूल पहचान से वंचित किया। मराठा मज़दूरों ने इन मिलों में बुनाई के काम से संबंधित हिस्से में अछूत मज़दूरों के आने का विरोध किया। खुद आम्बेडकर ने इस घटना का पूरा विवरण दिया है।

अछूत मज़दूरों को बुनाई करने के काम में पारम्परिक रूप से महारत हासिल थी। फिर भी, मराठा/कुनबी मज़दूरों ने उनके बुनाई करने वाले भाग में आने का विरोध क्यों किया? पहली बात तो यह है कि मराठा लोग यह सहन नहीं कर सकते थे कि नयी व्यवस्था में एक महार को उनसे ऊँची जगह मिल जाए। इसके विपरीत, मराठा कपड़ा मज़दूरों की यह इच्छा थी कि अतीत की तरह ही अब भी महार हर समय उनकी सांस्कृतिक मातहती में रहें। इस मामले में आम्बेडकर छुआछूत को एक ऐसी विचारधारा के रूप में देखते हैं जिसके ज़रिये ऊँची जाति के मज़दूर अपने भौतिक हितों की हिफ़ाज़त कर रहे थे। आम्बेडकर के पास छुआछूत के संदर्भ बिंदु को समझने की विश्लेषणात्मक क्षमता थी। अमूमन छुआछूत को एकमात्र हक़ीक़त मानने वाले विद्वानों ने इस पहलू की उपेक्षा की है। अछूत बुनकरों के विरोध में विद्वानों ने छुआछूत की भूमिका को हद से ज़्यादा महत्त्व दिया है। निश्चित रूप से छुआछूत एक प्रमुख कारण था। लेकिन इस विरोध के पीछे दूसरे भौतिक और सांस्कृतिक कारण भी थे। पहला, कुछ अध्ययनों के अनुसार मराठा लोगों की संख्या ढेड़ों से कम थी (बम्बई के महार और गुजरात से आये बुनकरों को ढेड़ कहा जाता था)। इस कारण मराठा लोग असुरक्षित महसूस करते थे। उन्हें हमेशा यह डर सताता था कि ढेड़ लोग उन्हें महत्त्वहीन कर देंगे। 1930 के दशक के दौरान कपड़ा मिलों में मराठा लोगों की संख्या तीन हज़ार थी और ढेड़ लोगों की संख्या तक़रीबन इनकी दोगुनी थी। इसके अलावा, ढेड़ बहुत पहले से बुनाई का काम करते आ रहे थे जबकि मराठा लोगों के पास इस तरह का कोई अनुभव नहीं था। इस कारण मराठा लोगों का डर और भी ज़्यादा बढ़ गया। बुनाई की पारम्परिक दक्षता गुजरात से आये दलितों के पारिवारिक नाम बुनकर से भी ज़ाहिर होती थी। हिंदी में भी बुनाई करने वाले को बुनकर ही कहा जाता है। काम करने वाली दूसरी जातियों की तरह ही महार और बुनकरों ने भी बुनाई का काम ऊँची जातियों की सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए नहीं पकड़ा था। दरअसल, उन्हें एक तरह से अपने कपड़े बुनने के लिए मजबूर किया गया था क्योंकि छुआछूत के कलंक के कारण वे नये कपड़े नहीं ख़रीद सकते थे। पारम्परिक बुनकर कपड़े बुनने का काम दूसरी जातियों के लिए करते थे। यही नहीं, मनु के आदेशों के अनुसार उन्हें पारम्परिक बुनकरों द्वारा बनाये गये कपड़े पहनने की भी मनाही थी। इन सामाजिक शर्तों के कारण उनके पास दो ही विकल्प थे : पहला, या तो वे अपने सामंत मालिकों द्वारा दिये गये कपड़े पहनें या फिर अपने लिए नये कपड़े बनाएँ। अछूत पुरुष और अछूत महिला— दोनों को ही भारत के अधिकांश भागों में शरीर के ऊपरी हिस्से में कपड़ा पहनने की इजाज़त नहीं थी। दलित पुरुष सिर्फ़ शरीर के निचले हिस्से को ढँकने के लिए कपड़ा पहनते थे। दरअसल, अधनंगे गाँधी किसान से ज़्यादा एक अछूत की तरह ज़्यादा दिखते थे। मध्य जातियों के मिल मज़दूरों, ख़ासतौर पर मराठों ने यह पाया कि उनके इच्छित लक्ष्य को हासिल करने के लिए छुआछूत एक प्रभावकारी साधन है। उनका लक्ष्य क्या

था ? उनका लक्ष्य परम्परा का उपयोग करते हुए आधुनिकता के फ़ायदे लेना था। या इसे उलटी तरफ़ से देखें तो वे परम्परा की बाँह पकड़ कर अपना पुराना आत्मविश्वास अर्जित करना चाहते थे। उन्हें डर था कि आधुनिकता के कारण कहीं उनका आत्मविश्वास ख़त्म न हो जाए क्योंकि आधुनिकता की बदौलत वह आत्म-विश्वास अब महारों को भी हासिल हो गया था। एक कारण यह भी था कि कपड़ा मिलों के बुनाई विभाग में दूसरे कार्यों के मुक़ाबले बेहतर वेतन मिलता था। मराठा मज़दूर इस मामले में अछूतों से मिलने वाली चुनौती के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। इस संदर्भ में यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि पूँजीपतियों के साथ औपनिवेशिक राज्य ने भी कपड़ा मिलों से जाति जैसी सामाजिक शक्ति को बाहर निकालने में कोई गहरी रुचि नहीं दिखाई। दरअसल, उन्होंने औद्योगिक मज़दूर संगठन के कार्यात्मक पदसोपान और सामाजिक पदसोपान के आपसी सामंजस्य को बहुत सक्रिय ढंग से बढ़ावा दिया। और इसके ज़रिये परम्परा और आधुनिकता के बीच एक अचूक सम्मिश्रण तैयार कर दिखाया। इन परस्पर संबंधित कारकों के कारण ही मराठा मज़दूर महारों का विरोध कर रहे थे। पर उनका यह विरोध तार्किक-आधुनिक आधार पर नहीं बल्कि परम्परा की पक्षधरता पर टिका था। मनु गोस्वामी ने वित्तीय स्थान की इस आधार पर बहुत ज़्यादा आलोचना की है कि यह स्थानीय 'देशी'
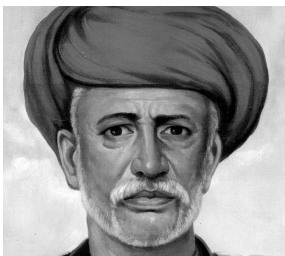
फुले ने इन स्थानीय शासकों को 'सेठजी और भाटजी' की और आम्बेडकर ने इन्हें ब्राह्मणसाई और भाण्डवालसाई (ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद) की संज्ञा दी थी। सत्ता के इस स्थानीय विन्यास की गतिकी का भारतीय सामाजिक चिंतन के निर्माण में एक निश्चित प्रभाव रहा है, जिसे कुछ सामाजिक समूहों की स्थानिक अवस्थिति से उपजे अनुभवों के ज़रिये बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

पर बेहद गहरा नकारात्मक प्रभाव डालता है। बहरहाल, यह वित्तीय स्थान जाति को स्वीकार करने वाले सामाजिक स्थान के साथ बेहतर सामंजस्य बनाकर काम करता है। बम्बई के शेयर बाज़ार ने आम्बेडकर की दक्षता और शेयर बाजार में उनकी विशेषज्ञता को कोई जगह नहीं दी और न ही उसकी तारीफ़ की। सिर्फ़ अछूत होने के कारण उन्हें इस बाज़ार से तक़रीबन बाहर फेंक दिया गया। बम्बई से प्रकाशित होने वाले एक गुजराती अख़बार ने उनकी जाति उजागर कर दी थी। भारत में प्रिंट मीडिया ने राष्ट्र की कल्पना को साकार करने के बजाय (प्रोफ़ेसर बेनेडिक्ट ऐंडरसन माफ़ करें क्योंकि भारत की जाति व्यवस्था ने आपकी अवधारणा को ठेंगा दिखा दिया है), वित्तीय स्थानों पर जाति की पकड़ मज़बूत बनाने का काम ज़्यादा किया। यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि भारत के संदर्भ में वित्तीय स्थान और सामाजिक स्थान परस्पर-व्यापी थे। हमारे लिए प्रासंगिक सवाल यह है कि वित्तीय स्थान और सामाजिक स्थान की इस परस्पर-व्याप्ति का आम्बेडकर के सामाजिक चिंतन में, ख़ासतौर पर उनकी सामाजिक न्याय और आत्म-सम्मान जैसी मानकीय अवधारणाओं के उभार पर क्या प्रभाव पड़ा ?

आम्बेडकर को ऐसा क्यों लगा कि बुनाई के काम से अछूत मज़दूरों का सामाजिक बहिष्करण ग़लत है और इससे सामाजिक न्याय के सिद्धांत का उल्लंघन होता है ? वे इस बहिष्करण को तीन आधारों पर ग़लत ठहराते हैं। पहला, उन्होंने अछूत मज़दूरों की ओर से न्याय का दावा करने के लिए आनुपातिकता का सिद्धांत पेश किया। यह सिद्धांत 1930 के दशक में बम्बई की कपड़ा मिलों में मज़दूरों की कुल संख्या से संबंधित था। एक अनुमान के मुताबिक मज़दूरों में 'ढेड़ों' की संख्या बहुत ज़्यादा थी। लेकिन इनमें से अधिकांश लोगों को सिर पर सामान ढोने या साफ़-सफ़ाई जैसे कामों में लगाया गया था। आम्बेडकर ने श्रम-शक्ति के ग़ैर-आनुपातिक वितरण की ओर संकेत करते हुए यह

असंतुलन ठीक करने का सुझाव दिया। दूसरा, आम्बेडकर यह मानते थे कि बुनाई के काम से बहिष्करण करके अछूत मज़दूरों को सांस्कृतिक न्याय से वंचित किया गया है। सांस्कृतिक न्याय का यह नकार इस बात में निहित था कि बहिष्करण के ज़रिये अछूतों की बुनाई-कर्म में दक्षता और इस काम में उनका पारम्परिक अनुभव ही ख़ारिज कर दिया गया था। इसके उलट, मराठा मज़दूरों का ख़ुद को दक्ष बुनकर घोषित करना इसलिए अन्यायपूर्ण था क्योंकि उनके पास बुनाई के काम का आवश्यक अनुभव ही नहीं था। इस बहिष्करण के कारण अछूतों को आख़िरकार कपड़ा मिल के अकुशल कार्यों में ठेल दिया गया जिससे उनका यह हुनर कमज़ोर पड़ता चला गया। दरअसल, आम्बेडकर यह सुझाव देते हैं कि जिन मज़दूरों के पास बुनाई करने की पर्याप्त दक्षता नहीं है, उन्हें मिल के बुनाई सेक्शन द्वारा इस काम का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। दरअसल, आम्बेडकर ने कपड़ा मिल में काम करने वाले अछूतों को प्रशिक्षित करने की योजना भी बनाई थी। इसके लिए वे वारहाड (अब विदर्भ) क्षेत्र से 130 प्रशिक्षित अछूत बुनकरों का एक जत्था ले कर भी आये। लेकिन इसके बाद भी ऊँची जाति के मज़दूरों ने कपड़ा मिलों में इन मज़दूरों को काम करने की इजाज़त नहीं दी। इसी कारण अछूतों को प्रशिक्षण नहीं दिया जा सका। यहाँ गाँधी की कपड़ा मिल मज़दूरों के संदर्भ में दी गयी आत्मसम्मान की अवधारणा देखने लायक़ है। गाँधी के अनुसार, जिस नैतिक स्रोत से मज़दूरों के आत्म-सम्मान को क्षति पहुँच सकती है, वह यह है कि मज़दूर हड़ताल के दिनों के लिए भी मज़दूरी की माँग करें जब उन्होंने कोई कार्य नहीं किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नैतिक अर्थव्यवस्था की गाँधीवादी रूपरेखा में एक निश्चित समय और स्थान के भीतर किया गया श्रम ही आत्मसम्मान का स्रोत होता है। नैतिक कर्त्तव्य के प्रति वचनबद्धता ही आत्मसम्मान हासिल करने की गारंटी है। इसलिए गाँधी के अनुसार एक मुफ़्तख़ोर आत्म-सम्मान का दावा नहीं कर सकता है।

आम्बेडकर के यहाँ आत्मसम्मान का विचार सांस्कृतिक न्याय की व्यापक अवधारणा के एक अन्य आनुभविक स्थान— पवित्र स्थान (हिंदू मंदिर) से फूटता है। आम्बेडकर के अनुसार पवित्र स्थान सिर्फ़ समान प्रवेश के अधिकार का ही स्रोत नहीं होता बल्कि यह मान्यता के नैतिक संघर्ष का भी स्रोत होता है। आम्बेडकर द्वारा चलाये गये मंदिर प्रवेश आंदोलन का लक्ष्य न तो आध्यात्मिक संतुष्टि के लिए पवित्र स्थान का निर्माण करना है, और न ही इसके जरिये वे अछूतों के लिए कोई आख़िरी नतीजा निकालना चाहते हैं। दरअसल, इसमें एक उच्चतर नैतिक मक़सद शामिल है। इसके द्वारा वे एक ओर, अछूतों को आत्मविश्वास से लैस करना चाहते हैं, तो दूसरी ओर, अड़ियल हिंदुओं के मन में तर्क-बुद्धि पैदा करना चाहते हैं। आम्बेडकर इस दोहरे शैक्षणिक लक्ष्य की उपलब्धि के लिए योगदान के सिद्धांत का उपयोग करते हैं। आम्बेडकर का तर्क है कि हिंदू मंदिरों के निर्माण और सुरक्षा में बहुत से अछूतों का योगदान रहा है। लेकिन ऊँची हिंदू जातियों के लोगों ने इनके योगदान को मान्यता नहीं दी। इसलिए अछूतों को यह महसूस करने का हक़ है कि उनके योगदान को मान्यता न देकर ऊँची जातियों के हिंदुओं द्वारा उनके आत्मसम्मान की उपेक्षा की गयी है। उनकी दृष्टि में अछूतों का यही योगदान उनके मंदिर में प्रवेश करने के अधिकार की भाषा पैदा करता है। इस तरह अगर अछूत अपने इस अधिकार की दावेदारी करने में चूक जाते हैं तो इससे उनके आत्मसम्मान को क्षति पहुँचेगी। आम्बेडकर मानते हैं कि आत्मसम्मान का स्रोत अधिकारों की भाषा में निहित है जो स्वयं इस बात से पैदा होती है कि हिंदू मंदिरों की हिफ़ाज़त करने में अछूतों का भी योगदान रहा है। दूसरे शब्दों में, आम्बेडकर मंदिर प्रवेश पर अछूत के नैतिक दावे को आत्मसम्मान का स्रोत मानते हैं। अछूतों में आवश्यक राजनीतिक ऊर्जा और काम का तक़ाज़ा पैदा करने के लिए वे दोहरे शैक्षणिक उपाय का क़दम उठाते हैं। पहला, दलितों से एक सकारात्मक सवाल पूछकर वे उन्हें वस्तुकरण की स्थिति से बाहर निकालते हैं : 'यदि मंदिर में प्रवेश करने को आप अपने अधिकार की तरह नहीं देखते तो क्या इससे आपका आत्मसम्मान नहीं खो जाता? आप मंदिरों के निर्माण और उसकी सुरक्षा

में अपने योगदान को कैसे सही साबित करेंगे?' दरअसल, इसी शैक्षणिक तरीके के ज़रिये वे अछूतों से अधिकारों की भाषा के पक्ष में हाँ भरवाते हैं। दूसरा, वे मंदिर प्रवेश आंदोलन में एक नैतिक तत्त्व भी देखते हैं। आम्बेडकर के अनुसार ऊँची जातियाँ मंदिरों में प्रवेश करने के अछूतों के दावों का बहुत ही कट्टर तरीक़े से विरोध करती हैं। मंदिर प्रवेश का आंदोलन चलाने से ऊँची जातियों के लोगों में शर्म नहीं तो, कम-से-कम एक तार्किकता की भावना ज़रूर आ सकती है। इसलिए आम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत सामाजिक न्याय के साँचे में एक पवित्र स्थान के रूप में मंदिर रैडिकल राजनीति से काफ़ी गहराई से जुड़ा हुआ है, जिसका लक्ष्य अछूतों में एक तरह की नकारात्मक चेतना का निर्माण करना है। जैसा कि हम जानते हैं आम्बेडकर ने मंदिर प्रवेश आंदोलन का प्रयोग उस सीमा तक किया जहाँ तक वह दलित चेतना को एक उच्चतर स्तर तक ले जाने के लिए आवश्यक था। वे दलित चेतना को एक ऐसे स्तर पर ले जाना चाहते थे जहाँ वह सामाजिक और सांस्कृतिक न्याय की अवधारणा को

मनु गोस्वामी पार्थ चटर्जी के एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का हवाला देते हुए यह दावा करती हैं कि अपनी समस्त वांछनीयता के बावजूद इस तरह का हस्तक्षेप इसलिए पर्याप्त नहीं लगता क्योंकि चटर्जी ने राष्ट्रवादी चिंतन और उसकी गतिकी की जैसी आलोचना की है वह अपनी सामग्री के लिहाज़ से युरोपीय परम्परा पर बहुत ज़्यादा निर्भर करती है।

राजनीतिक मुहावरे में कहना सीख जाए। आम्बेडकर के अनुसार मंदिर को पवित्र स्थान मानने से जुड़ा विवाद मुख्यधारा की हिंदू कल्पना के ख़िलाफ़ जाता है क्योंकि इस कल्पना में भारत के सांस्कृतिक निर्माण को भारतमाता का रूप देकर एक पवित्र स्थान के तौर पर मंदिर का महत्त्व और भी ज़्यादा बढ़ा दिया गया है। इस परचे के आख़िरी भाग में हम इस बिंदु की ज़्यादा गहराई से विवेचना करेंगे।

बहरहाल गाँधी और आम्बेडकर के बीच एक रोचक समानता है। गाँधी आम्बेडकर से उसी सीमा तक अलग हैं, जिस सीमा तक वे अछूतों के मंदिर प्रवेश की वकालत करने के बावजूद अधिकारों की आधुनिक भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं। इसके विपरीत, वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि ऊँची जातियों के हिंदुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अछूतों को हिंदू मंदिरों में प्रवेश करने की इजाज़त दें। उन्होंने ऊँची हिंदू जातियों के लोगों के मन में तर्क-बुद्धि (या रीज़न) का तत्त्व पैदा करने के लिए परम्परा का आलोचनात्मक उपयोग किया। इन लोगों में नैतिक तर्क पैदा करने के लिए वे यह अपील करते हैं कि 'यदि आप यह मानते हैं कि मंदिर ऐसे पवित्र स्थान हैं जहाँ आप इस जन्म या पूर्व-जन्म के पाप धो सकते हैं, और यदि आप यह मानते हैं कि अछूतों ने अपने पूर्व-जन्म में पाप किया था, तो क्या यह आपका नैतिक कर्त्तव्य नहीं है कि इस जन्म में आप उन्हें अपना पाप धोने की इजाज़त दें?' यहाँ गाँधी योगदान के सिद्धांत पर विचार नहीं करते और अहमदाबाद में कपड़ा मज़दूरों के संबंध में अपनाये गये रुख़ से पलट जाते हैं। हम जानते हैं कि उन्होंने वास्तविक श्रम को न्याय और आत्मसम्मान से जोड़ा था। दूसरी ओर, आम्बेडकर देहमुक्त सार्वभौम तर्क का प्रयोग करते हुए ऊँची जाति के हिंदुओं को तार्किक बनाने की कोशिश करते हैं। उनके ये तर्क 'हक़दारी' की अवधारणा पर आधारित हैं। यह हक़दारी पहले से मिली सामाजिक सम्पत्ति या सम्पदा से पैदा नहीं होती, बल्कि लोगों द्वारा किये गये वास्तविक योगदान से जन्म लेती है। इस संदर्भ में हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि आम्बेडकर मंदिर प्रवेश आंदोलन का उपयोग पवित्र स्थान को वैधता देने के लिए नहीं, बल्कि अछूतों में एक ऐसी नकारात्मक चेतना पैदा करने के लिए करते हैं जो सामाजिक न्याय तथा आत्म-सम्मान

की अवधारणा को राजनीतिक अर्थ में व्यक्त करने की पूर्व-शर्त होती है। इसलिए यहाँ मंदिर में प्रवेश करना अछूतों में विद्रोही सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करना है। लेकिन एक अलग स्थिति में वे मंदिर से बहिर्गमन के विचार को सांस्कृतिक चेतना की पूर्वपीठिका निर्मित करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। उन्हें यह सांस्कृतिक चेतना सामाजिक न्याय और ख़ास तौर पर आत्म-सम्मान की अवधारणा की अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य लगती है।

दक्षिण भारत के दूसरे कई अछूत और ग़ैर-ब्राह्मण नेताओं की तरह आम्बेडकर ने भी देवदासी व्यवस्था को अपमान का स्रोत माना। इन विचारकों के अनुसार यह प्रथा अछूत महिलाओं के भीतर आत्म-सम्मान की भावना को ख़त्म कर देती है। 'दैवीय विवाह' की व्यवस्था द्वारा हिंदू मंदिरों से बाँध दी गयी ये अछूत स्त्रियाँ कहने को तो देवताओं से ब्याही गयी होती हैं लेकिन हक़ीक़त यह है कि प्रभावशाली लोग इनका हर तरह से उपभोग करते हैं। देवदासी व्यवस्था ओडिशा के पुरी या दक्षिणी कर्नाटक के सौदात्ती और चंद्रागुत्ती मंदिरों में प्रचलित थी। दरअसल, इस व्यवस्था के कारण अछूत महिलाओं का शारीरिक शोषण होता रहा है। समाज में इन महिलाओं को नैतिक प्लेग माना जाता है। आम्बेडकर देवदासी के सवाल पर बहुत गहराई से विचार करते हैं। और उनसे बार-बार अपील करते हैं कि वे इस व्यवस्था को छोड़कर नागरिक समाज में वापस आ जाएँ। वे यह मानते हैं कि मंदिर का पवित्र स्थान सिर्फ़ शोषण का ही नहीं बल्कि सामूहिक शर्म और अपमान का भी भयंकर स्रोत है। आम्बेडकर यह सुझाव देते हैं कि देवदासी की समस्या को सुलझाने के लिए विवाह का रास्ता अपनाना चाहिए। उनकी दलील है कि देवदासी महिलाओं को किसी मिथकीय चरित्र से नहीं, बल्कि एक जीवित मनुष्य से शादी करनी चाहिए क्योंकि वे इसी के ज़रिये आत्म-सम्मान हासिल कर पाएँगी। इस तरह, पवित्र स्थान के बजाय नागरिक समाज का स्थान ही आत्म-सम्मान का एक संदर्भ उपलब्ध कराता है। रैडिकल नारीवादियों के लिए यह प्रस्ताव बहुत ज़्यादा आपत्तिजनक है। आम्बेडकर यह मानते हैं कि बौद्ध विवाह व्यवस्था में संहिताबद्ध तार्किकता मानवीय गरिमा का सर्वोच्च स्रोत है।

लेकिन मंदिरों से निकलने के बाद देवदासी के सामने अपवित्र स्थान ही सामने आता है। देवदासी के मामले में जड़ अनुभव और आनुभविक स्थान एक दूसरे से मिल जाते हैं। वे मंदिर छोड़ती हैं और मुम्बई के कमाठीपुरा (सेक्स वर्करों का इलाक़ा) में पहुँच जाती हैं। आम्बेडकर यह मानते हैं कि यह क्षेत्र सामान्य रूप से अछूत समुदाय के लिए और ख़ास तौर पर अछूत महिलाओं के लिए गरिमाहीनता का स्रोत है। उन्होंने 1930 के दशक में इन महिलाओं की सामाजिक गोलबंदी की शुरुआत की। इस गोलबंदी का मुख्य मक़सद एक सामाजिक वस्तु अर्थात् आत्मसम्मान हासिल करना था। उन्होंने कमाठीपुरा में उनकी बैठक को सम्बोधित किया और पूरी गम्भीरता से उनसे अपील की कि उन्हें यह काम छोड़ देना चाहिए। उन्होंने पूर्व-देवदासियों से कहा कि वे कोई दूसरा ज़्यादा गरिमा वाला काम करें जिसमें उनके मानुष्की अर्थात् आत्म-सम्मान की गारंटी हो। राष्ट्रवादी नेताओं ने इलाहाबाद में आनंद भवन से राजनीतिक आज़ादी के लिए संघर्ष की शुरुआत की, जबकि आम्बेडकर ने सामाजिक आज़ादी के लिए संघर्ष किया। आम्बेडकर सामाजिक आज़ादी के लिए उन कलंकित स्थानों से दलित महिलाओं की मुक्ति ज़रूरी मानते हैं। आम्बेडकर यह दलील देते हैं कि स्थान अवमानना का स्रोत न होकर सिर्फ़ गरिमाहीनता को अभिव्यक्त करता है। श्रम की नैतिक गुणवत्ता आत्मसम्मान का वास्तविक सत्व है। आम्बेडकर के इस विचार में श्रम की वैकल्पिक अवधारणा शामिल है, जिसका आत्मसम्मान पर बहुत ही सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। देह-व्यापार की कुछ शर्तें सेक्स-वर्करों (यौनकर्मियों) को कुछ स्वायत्तता दे सकती हैं और बाज़ार का तर्कशास्त्र सेक्स-वर्करों के बीच एक तरह के पदसोपान (हायरार्की) की भी शुरुआत कर सकता है। क्या इसका मतलब यह है कि हम उन्हें यह 'चुनने' की आज़ादी देते हैं कि उन्हें किसके साथ सहवास करना चाहिए। आम्बेडकर स्पष्ट रूप से इस सवाल का जवाब 'नहीं' के रूप में देते हैं। शायद वे शारीरिक श्रम को दैहिक वस्तु से नहीं मिलाना चाहते

हैं और शारीरिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए विवाह को गरिमामय रास्ता मानते हैं। इसलिए वे अछूत महिलाओं के सेक्स-वर्कर बनने के विचार का समर्थन नहीं करते। वे यह नहीं चाहते कि ये महिलाएँ सिर्फ़ एक वस्तु में तब्दील हो जाएँ और देह-व्यापार के बदले दूसरों की दैहिक संतुष्टि का साधन बन जाएँ। इसलिए आम्बेडकर सुझाव देते हैं कि मूल रूप से आत्मसम्मान एक ऐसी प्रक्रिया से सामने आता है, जहाँ अछूत महिलाएँ अपने श्रम का प्रकृति, भूमि या उद्योग जैसी ग़ैर-दैहिक या भौतिक सम्पत्तियों के साथ योग करती हैं। आम्बेडकर यह मानते हैं कि शरीर श्रम-शक्ति को धारण करने वाली इकाई के रूप में होता है। यदि यह ख़ुद को सिर्फ़ आनंद के प्रतीकों में तब्दील कर लेता है तो वह कभी भी आत्मसम्मान जैसे प्राथमिक शुभ का उत्पादन नहीं कर सकता है। लेकिन जो ग़ैर-दैहिक वस्तु में अपना श्रम मिलाकर अछूत के घर की नैतिक अर्थव्यवस्था में योगदान देते हैं, वे निश्चित रूप से अपने लिए और समाज के लिए सम्मान अर्जित करते हैं। आम्बेडकर यह मानते हैं कि जो लोग अपने हाथ से काम करते हैं और एक बड़े मक़सद के लिए आर्थिक बर्बादी झेलते हैं, वे सामाजिक शुभ के उत्थान में योगदान देते हैं। जो शरीर नैतिक अर्थव्यवस्था में बर्बाद हो जाते हैं, वे इज़्ज़त के हक़दार होते हैं। इसलिए आम्बेडकर आत्मसम्मान को श्रम की नैतिक गुणवत्ता से जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, सिर्फ़ श्रम का विनिमय मूल्य महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। इसके बजाय, श्रम का
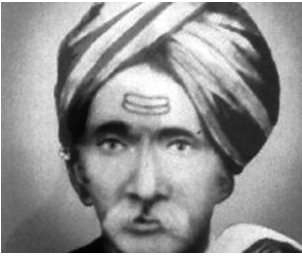
आम्बेडकर बापूराव की इज़्ज़त नहीं करते क्योंकि उन्हें वे एक ऐसा मुफ़्तख़ोर मानते हैं जो सम्पत्ति और प्रसिद्धि हासिल करने के लिए एक अछूत महिला का एक वस्तु के रूप में उपयोग करता है। ... दूसरा, तमाशा द्वारा कमाये जाने वाले पैसे में भी नैतिक क्षमता नहीं होती है क्योंकि उसका दर्शक तमाशा की सौंदर्यपरक समझ के लिए नहीं बल्कि देह के वस्तुकरण के ज़रिये अपनी प्रचण्ड सेक्शुअल इच्छाओं की संतुष्टि पर पैसा ख़र्च करता है।

उपयोग मूल्य दलित घर की विशेष ज़रूरतों, ख़ासतौर पर इसकी नैतिक अर्थव्यवस्था को पूरा करता है। यह आत्म-सम्मान के नैतिक स्रोत का निर्माण करता है। इसलिए आम्बेडकर आत्म-सम्मान को श्रम की नैतिक गुणवत्ता से जोड़ते हैं। दूसरा, वे यह मानते हैं कि जो स्थान श्रम को ग़ैर-दैहिक विशेषताओं के साथ मिलाते हैं, वही आत्म-सम्मान को हासिल करने का आधार उपलब्ध कराते हैं।

इसी तरह, आम्बेडकर आत्मसम्मान का एक बुनियादी अर्थ यह भी मानते हैं कि व्यक्ति के पास अपने सामाजिक श्रम से उत्पादित मूल्य के वितरण की स्वायत्तता हो। इस अर्थ में दूसरों के श्रम से उत्पादित चीज़ों पर अधिकार जताने वाला मुफ़्तख़ोर या परजीवी व्यक्ति भी अपना आत्मसम्मान खो देता है। आत्मसम्मान का यह विचार आम्बेडकर द्वारा लोक नाट्य परम्परा तमाशा की आलोचना में बड़े प्रखर ढंग से प्रदर्शित होता है। तमाशा को आम्बेडकर एक अपवित्र स्थान की संज्ञा देते हैं जो ऊँची जाति के लोगों को दलित महिलाओं के वस्तुकरण का मौक़ा प्रदान करता था। आम्बेडकर एक ब्राह्मण लोकगायक पाथे बापूराव का ज़िक्र करते हैं जिसने एक अछूत महिला पवडाबाई से विवाह करके 'अग्रहार' और दलित बस्ती के अंतर को ख़त्म कर दिया था। पवडाबाई बहुत ही खुबसूरत थीं और उन्हें लावणी में महारत हासिल थी (कोई यह दलील दे सकता है कि तमाशा उन लोगों के लिए मुक्तिकारी स्थान उपलब्ध कराता था जिनके शरीर पहले से ही मुक्त हो गये थे)। बापूराव के पावडा से प्यार को इसी रूप में देखा जा सकता है। बापूराव अपने प्यार और साहित्यिक कल्पना का पावडा की कलात्मक दक्षता से कुछ इस तरह तादात्म्य करते हैं कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तमाशा मनोरंजन का एक बेहद लोकप्रिय माध्यम बन जाता है। लेकिन तमाशा सामाजिक गोलबंदी का भी एक ज़बरदस्त

साधन था। पर श्रम की गरिमा के बारे में आम्बेडकर के दृष्टिकोण के अनुसार बापूराव और पावडा दोनों ही अपने आत्मसम्मान से हीन हो गये थे। आम्बेडकर के अनुसार पावडा ने अपनी स्वायत्तता खो दी क्योंकि वह अपने शरीर और अपने श्रम के ऊपर वितरणकारी शक्ति का प्रयोग नहीं कर पा रही हैं। आम्बेडकर बापूराव की इज़्ज़त नहीं करते क्योंकि उन्हें वे एक ऐसा मुफ़्तख़ोर मानते हैं जो सम्पत्ति और प्रसिद्धि हासिल करने के लिए एक अछूत महिला का एक वस्तु के रूप में उपयोग करते हैं। आम्बेडकर के मुताबिक़ आत्मसम्मान श्रम की नैतिक गुणवत्ता और उस श्रम से उत्पादित चीज़ों के वितरण की दावेदारी से पैदा होता है। दूसरा, तमाशा द्वारा कमाये जाने वाले पैसे में भी नैतिक क्षमता नहीं होती है क्योंकि उसका दर्शक तमाशा की सौंदर्यपरक समझ के लिए नहीं बल्कि देह के वस्तुकरण के ज़रिये अपनी प्रचण्ड सेक्शुअल इच्छाओं की संतुष्टि पर पैसा ख़र्च करता है। इसीलिए जब बापूराव ने आम्बेडकर के सामाजिक आंदोलन में दान देने का प्रस्ताव रखा, तो आम्बेडकर ने उसे लेने से मना कर दिया।

इसलिए, आम्बेडकर के अनुसार एक सांस्कृतिक स्थान के रूप में तमाशा मुफ़्तख़ोर लोगों को पैदा करता है, जो खुद और दूसरों को गरिमाहीन स्थिति की ओर ले जाता है। आम्बेडकर यह भी मानते हैं कि मुफ़्तख़ोर लोगों में आत्मसम्मान नहीं होता। इसी तरह, 'वेतबेगारी' (या बेगारी) भी दलितों को आत्म-सम्मान से हीन करती है। अभी भी, अछूत कमोबेश, 'वेतबेगार' के रूप में ही काम करते हैं। यह व्यवस्था देश के कुछ भागों में आज भी जारी है। आम्बेडकर चाहते थे कि अछूत और 'वेतबेगारी' कराने वाले लोग इस काम के अपमानजनक पहलू को समझें। वे 'वेतबेगार' को स्वार्थहीन कर्त्तव्य से नैतिक दावे में बदलना चाहते थे। और इसके लिए मंदिर निर्माण में अछूतों के योगदान को आधार बनाना चाहते थे। मेरा अनुमान है कि भारत के तक़रीबन सभी महत्त्वूपर्ण मंदिर अछूतों द्वारा की गयी बेगार से बने हैं। दूसरा, अछूत महिलाओं के आत्मसम्मान के संदर्भ में उनकी समझ को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे निम्न जाति/अछूत महिलाओं द्वारा किन्हीं एंग्लो-इण्डियन माताओं के बच्चों की 'धाय' बन कर कथित प्रतीकात्मक स्थान हासिल करने या एंग्लो-इण्डियन सम्पादकों या व्यापारियों की मंगेतर बनकर उनके साथ घर में रहने या पुरी के जगन्नाथ मंदिर या कर्नाटक में चंद्रागुट्टी और सौदात्ती में रेणुका देवी की देवदासी के रूप में रहने का कभी अनुमोदन नहीं करते।

हिंदू सांस्कृतिक कल्पना में मंदिरों का विचार एक राष्ट्र के रूप में भारत को परिभाषित करने की बुनियादी शर्त है। यह बात चार धामों (चार हिंदू तीर्थ-स्थानों) के विचार से भी प्रकट होती है, जो एक तरह से हिंदू भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक परिकल्पना की पूर्ति करते हैं। यहाँ तक कि नेहरू भी आधुनिक परियोजनाओं के लिए मंदिर के रूपक का उपयोग करते हैं। उनकी निगाह में ये परियोजनाएँ सेकुलर और आधुनिक भारत की झलक पेश करती हैं। गाँधी और आम्बेडकर भारत को कैसे देखते हैं? उनके ख़यालों का भारत कैसा है? भारत का नामकरण दोनों अलग-अलग ढंग से करते हैं। गाँधी भारत की कल्पना रामराज्य के रूप में करते हैं और आम्बेडकर इसे बहिष्कृत भारत कहते हैं। हालाँकि आम्बेडकर बहिष्कृत भारत को प्रबुद्ध भारत में बदलना चाहते हैं। भारत को अपनी अवधारणाओं के हिसाब से कल्पित करने में दोनों अलग-अलग स्थानिक क्रम अपनाते हैं। गाँधी अपने भारत का विचार ख़ुद को मुख्यत: दरिद्रनारायण, किसानों के अनुभवों से जोड़ते हुए पेश करते हैं; ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ आम जनता को एकजुट करने के लिए किसानों को गोलबंद करते हैं। इसलिए उनके विरोधी बदलते रहते हैं। सत्ता की स्थानीय संरचना में ऊँची जाति के हिंदू पुरुष और महिलाएँ— दोनों ही उनके विरोधी हैं। लेकिन सत्ता की औपनिवेशिक संरचना में अंग्रेज़ी शासन गाँधी का विरोधी है। दूसरी ओर, आम्बेडकर जिन चीज़ों का विरोध करते हैं उनमें हम एक निरंतरता देख सकते हैं। उनका विरोधी सत्ता की स्थानीय संरचना में न्यस्त है (लेकिन इसका मतलब यह नहीं है

कि वे ब्रिटिश राज्य को किसी तरह की छूट देते हैं)। आम्बेडकर के लिए शक्ति का स्थानीय विन्यास या संरचना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि औपनिवेशिक राज्य के विपरीत यह संरचना अपने अत्यंत संगठित स्थानों के ज़रिये आम्बेडकर और उनकी अछूत जनता के भीतर ऐसे साझे अनुभव पैदा करती है जो समय और स्थान से परे हैं। (यहाँ 'स्थान' को उसके भू-क्षेत्रीय अर्थ में लिया गया है।))। इसलिए आम्बेडकर की सामाजिक कल्पना में भारत मुख्यत: 'बहिष्कृत भारत' के रूप में आता है। उनका यह भारत बहिष्कृत लोगों का भारत है। दरअसल, आम्बेडकर भारत को एक ऐसी भाषा में कल्पित करने के लिए मजबूर कर दिये गये हैं जो बहुत सारे लोगों को नकारात्मक लग सकती है। आम्बेडकर की कल्पना बेनेडिक्ट ऐंडरसन की रूपरेखा में फ़िट नहीं बैठती क्योंकि उसमें राष्ट्र की कल्पना सार्वभौम स्थितियों में की गयी है। इस कल्पना में सार्वभौम स्थितियों को उसी समय प्रभुत्वशाली भी होना चाहिए। मसलन, राष्ट्र की सफल कल्पना सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों की एकरूपता पर आधारित होती है। जिन भू-क्षेत्रों में यह स्थिति मौजूद नहीं होती है, वहाँ उसे विचारधारा जैसे व्यक्तिनिष्ठ साधन के सहारे पैदा करना पड़ता है। राष्ट्र की विचारधाराएँ ख़ुद अभिव्यक्त नहीं हो जातीं। उन्हें भी अपने प्रतिनिधित्व के लिए स्थान की आवश्यकता होती है। सामाजिक स्थान का विस्तार होने पर अवधारणा के स्थान का भी विस्तार होता है और अवधारणा के स्थान के इस विस्तार में कोई ख़ास व्यक्ति सार्वभौम विचार में रूपांतरित हो जाता है। इसलिए भारत के बहुसंख्य लोगों के लिए गाँधी बनिया या एक गुजराती व्यक्ति न रहकर महात्मा बन गये हैं। गाँधी यात्रा के लिए लालायित रहते हैं और भारत की कल्पना को यात्रा के माध्यम से ही मूर्त रूप देते हैं क्योंकि भारत की कल्पना के लिए उन्हें यह समाजशास्त्रीय सादृश्यता ही सबसे अनुकूल स्थिति लगती है। उन्हें यह समाजशास्त्रीय सादृश्यता गाँव की व्यवस्था में भी दिखाई देती है। वे किसानों को इस व्यवस्था का केंद्र मानते हैं। किसानों के अनुभवों में भागीदारी करने के लिए वे किसानों की वेशभूषा अपना लेते हैं और ख़ुद को प्रतीकात्मक रूप से किसान बना डालते हैं (यह उनकी बायो-पॉलिटिक्स है)। गाँधी ने 'भारत बनाने' की परियोजना पेश करने से पहले देश के विभिन्न भागों की विस्तृत यात्रा की। इन यात्राओं द्वारा वे अनुभवों में एकरूपता की खोज करना चाहते थे और शैक्षणिक मक़सद से इसका उपयोग करना चाहते थे। अपनी यात्राओं द्वारा उन्होंने सिर्फ़ आध्यात्मिक सीमाओं की ही खोज नहीं की बल्कि उन्होंने यह भी पाया कि किसानों के अनुभव मोटे तौर पर एक जैसे ही हैं। किसानों को औपनिवेशिक राज्य के हाथों मिला शोषण का यह अनुभव भारत की गाँधीवादी कल्पना का प्रमुख स्रोत है। गाँधी इसी अनुकूल स्थिति के कारण केंद्रीय स्थान पर 'क़ब्ज़ा' कर लेते हैं और इसका भारतीय जनता, मुख्यत: किसानों की राजनीतिक गोलबंदी में कुशलता से उपयोग कर जाते हैं। इसलिए वे संयुक्त प्रांत के कानपुर शहर के बीचोबीच स्थित एक खुली जगह में एक रैली आयोजित कर सकते हैं या वे कानपुर के ऊँची जाति के प्रसिद्ध व्यक्ति रोहतगी के मेहमान बन सकते हैं। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में गाँधी की इन यात्राओं में ऐसे कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसमें ब्रिटिश रेलवे की भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी जिसने एक तरह से गाँधी की इन यात्राओं को मुमकिन बनाया। इसलिए यह अचरज की बात नहीं है कि गाँधी 'बहिष्कृत' भारत की खोज नहीं करते क्योंकि अपनी यात्राओं के दौरान उन्हें हर जगह एकरूपता दिखाई पड़ती है। इन यात्राओं के दौरान वे ख़ुद को किसानों, सामंतों के परिवारों और उभरते उद्योगपतियों के बीच पाते हैं। कई मौकों पर राजनीति की ज़रूरत के मुताबिक़ वे मेहतरों (सफ़ाईकर्मियों) की झोंपड़ियों में भी रुकते हैं। इसलिए गाँधी के पास यह विकल्प है कि वे अपने स्थानों का उदग्र रूप से 'अतिक्रमण' कर सकें। आम्बेडकर के पास यह विकल्प नहीं है। वे और उनके जैसे दूसरे अछूत सिर्फ़ एक ही दिशा में क्षैतिज रूप से आगे बढ़ सकते हैं। वे एक दलितवाड़े से निकलकर इसी से मिलते-जुलते दूसरे क्षेत्र में जाते हैं। इसलिए जब वे कानपुर में जाते हैं तो अपनी जाति के व्यक्ति सोनकर के साथ ठहरते हैं। वे सिर्फ़

अछूतों की बस्ती में ही अछूतों की सभा को सम्बोधित करते हैं। देश की अपनी यात्रा के दौरान वे उत्तर में कानपुर और आगरा में तथा दक्षिण में बेलगाँव और कोलार में अलग-अलग दलित बस्तियों में जाते हैं। इन सारे स्थानों में अनुभव की समरूपता (ख़ुद आम्बेडकर और उनके लोगों के लिए) आम्बेडकर को भारत की कल्पना अलग ढंग से करने को मजबूर करती है। वे अपने भारत की कल्पना 'बहिष्कृत भारत' (या बहिष्कृत लोगों के भारत) के रूप में करते हैं।

भारत को कल्पित करने का यह तरीक़ा तब और भी धारदार हो जाता है जब सराय जैसे हिंदू सार्वजनिक स्थानों को अछूतों के लिए बंद कर दिया जाता है। उन्नीसवीं सदी में पण्डिता रमाबाई ने पूरे भारत में कुल 4,000 किलोमीटर की यात्रा की। अपनी यात्रा के दौरान उन्होंने पाया कि सराय जैसी जगहों पर नीची जाति के लोगों को आने की इजाज़त नहीं थी। मध्य भारत में अछूतों पर इस तरह की पाबंदी के कारण ही एक दलित नेता को विधान परिषद में यह प्रस्ताव लाना पड़ा कि सरायों को ऊँची जातियों की पाबंदियों से मुक्त किया जाए। दरअसल, आम्बेडकर धर्मशाला (सराय) की धारणा की आलोचना करते हैं क्योंकि महाराष्ट्र के पंढरपुर में इन धर्मशालाओं में अछूत धर्मयात्रियों के साथ विद्वेषपूर्ण और अपमान से भरा बरताव किया जाता था। सरायों में अछूतों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार को देखते हुए यह सहज ही समझा जा सकता है कि अछूतों में पूरे भारत की यात्रा करने की प्रवृत्ति कम क्यों पाई जाती है। अछूत सिर्फ़ स्थानीय शासकों या ब्रिटिश सेना में शामिल होकर ही पूरे भारत की यात्रा कर सकते थे। ज़ाहिर है कि दलित आदि शंकराचार्य की तरह भारत की कल्पना चार धामों के रूप में नहीं कर सकते थे।

यह बात भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि महाराष्ट्र में दलितों का शुरुआती नेतृत्व फ़ौज के दायरे से विकसित हुआ है। आम्बेडकर और दलितों के लिए पूरे भारत की यात्रा करना ब्रिटिश रेलवे की शुरुआत के बाद ही मुमकिन हो पाया। अपनी यात्राओं में उन्हें एक जैसे अनुभव हुए। आम्बेडकर ऐसे अनुभवों की बिना पर ही गाँधी, नेहरू और पटेल के स्वशासन और 'अतुल्य भारत' के विचारों की बजाय आत्म-सम्मान और सामाजिक न्याय को ज़्यादा महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत, ऊँची जाति के नेताओं और सामाजिक अभिजनों ने इस बात का ख़याल रखा कि यदि उन्हें कभी आम्बेडकर की मेज़बानी करनी भी पड़े, तो वे अपने सामाजिक स्थान से बाहर न जा पाएँ। मसलन, धुले (महाराष्ट्र का एक ज़िला मुख्यालय जो बीसवीं सदी की शुरुआत में औपनिवेशिक राज्य की गतिविधियों का प्रमुख केंद्र था) में रहने वाले एक जज और शायद उनकी पत्नी को आम्बेडकर के अछूतपन से निपटने के लिए कार का सहारा लेना पड़ा। जज के लिए आम्बेडकर को अपनी पाठशाला (एक संस्कृत स्कूल) में बुलाना मुश्किल जान पड़ा तो उन्होंने आम्बेडकर से चलती कार में बात करने का फैसला किया। इस क़वायद में ईंधन तो काफ़ी खर्च हो गया लेकिन यह ईंधन उस सामाजिक क़ीमत से बहुत कम था, जो जज को आम्बेडकर को अपने घर ले जाने पर चुकानी पड़ती। बम्बई में पनवेल नामक जगह पर पनवालक्कर नाम के एक व्यक्ति ने आम्बेडकर को अपने घर ले जाने की हिम्मत दिखाई। लेकिन उसे इसकी क़ीमत अदा करनी पड़ी। इस दौरान ऊँची जाति के पुरुषों द्वारा नहीं बल्कि महिलाओं ने यह ज़िम्मेदारी सँभाली कि घर भ्रष्ट न हो पाए। खुद आम्बेडकर के अपने शिक्षक की स्थिति से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। आम्बेडकर के शिक्षक उन्हें अपने घर बुलाना चाहते थे, लेकिन अपनी पत्नी के विरोध के डर के कारण वे ऐसा नहीं कर पाए।

अवमानना के इन्हीं अनुभवों के कारण आम्बेडकर को बड़ौदा और दौलताबाद में या तो दलितवाड़े में शरण लेनी पड़ी या फिर सरकारी काम के दौरान सरकारी बंगले में ठहरना पड़ा। दरअसल, आधुनिकीकरण और 'डाक-बंगला' बनाने की औपनिवेशिक नीति के कारण ही आम्बेडकर ऊँची जाति के मेज़बानों द्वारा किये जाने वाले अपमान से बच पाये। इन्हीं अनुभवों के

कारण आम्बेडकर ने स्वशासन की बजाय आत्मसम्मान और सामाजिक न्याय जैसे विचारों को ज़्यादा महत्त्व दिया। गरिमा और आत्मसम्मान की यह भाषा राष्ट्र के निर्माण के बाद भी क़ायम और प्रासंगिक बनी रही है। लेकिन इसके बावजूद इस तरह के विचार सम्प्रभु नहीं बन पाए। आख़िर इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि इन विचारों का सत्तामीमांसीय सूत्र एक ऐसी विशाल आबादी के सामाजिक अस्तित्व से जुड़ा हुआ है जिसकी समस्याओं को लेकर भारत के सामाजिक अभिजनों, जो कि शासक भी हैं, का रुख़ सरोकार के बजाय दिखावे का रहा है। आम्बेडकर के मामले में अवधारणात्मक स्थान तार्किक रूप से सामाजिक स्थान से और सामाजिक स्थान, अवधारणात्मक स्थान से जुड़ा हुआ है। इन दोनों के बीच के परस्परव्यापी संबंध को अनुभव नियंत्रित करता है। दूसरी श्रेणियों के विपरीत, ऊँची जातियों की कल्पना में, सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान भी दलितों की सामाजिक स्थिति के भीतर ब्रैकेटेड (कोष्ठक के बीच या सीमित) रहेंगे। यह अपने-आप में बहुत बड़ी विडम्बना है कि दलितों की इसलिए निंदा की जाती है कि वे अपनी संकुचित पहचान से चिपके रहना चाहते हैं। दरअसल, सच्चाई यह है कि इसके लिए वे खुद ज़िम्मेदार नहीं हैं। उन्हें एक तरफ़ राज्य और दूसरी ओर बुद्धिजीवियों ने इस संकुचित पहचान की ओर धकेला है। क्या दलितों पर संकुचित नज़रिया अपनाने की तोहमत लगाना नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण नहीं है? क्या इसके लिए फ़ैसला करने वाले लोग भी ज़िम्मेदार नहीं हैं जो विचारों और पहचान के बीच की कड़ी को लगातार बनाये रखते हैं।

संदर्भ

गोपाल गुरु (1987), 'पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ डिस्क्रिमिनेशन ऐंड सेग्रिगेशन इन अरबन बॉम्बे 1930.', *सोशल साइंस प्रोबिग्ज़,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

जी.एस. घुर्ये (1965), *कास्ट ऐंड ट्राइब्स ऑफ़ महाराष्ट्र,* पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई.

दीपांकर गुप्ता (2000), *कल्चर, स्थान ऐंड नेशन-स्टेट,* सेज, नयी दिल्ली.

नंदिनी गुप्तु (2001), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ द अरबन पुअर इन अर्ली ट्वेंटियथ सेंचुरी इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

पार्थ चटर्जी (1986), *नैशनलिस्ट थॉट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड : अ डेरिवेटिव डिस्कोर्स?,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बाबासाहेब भीम राव आम्बेडकर, 2005. *राइटिंग्ज़ ऐंड स्पीचेज़,* खण्ड 18, पार्ट II, एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र.

बी.एन. गांगुली (1973), *गाँधीज़ सोशल फ़िलॉसफ़ी : पर्सपेक्टिव ऐंड रेलेवेंस,* विकास, नयी दिल्ली.

बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1991), *इमैजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ़्लेक्शंस ऑन द ऑरिजिंस ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़म,* वर्सो, लंदन.

एन.जी. भार्वे (2007) 'वुमॅन दादा कर्डक यन्ची गीन रचना', परशुराम गीमकर (सम्पा.), कैलाश पब्लिकेशंस, औरंगाबाद.

भीखू पारिख (1996), *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन ऐंड रिफ़ॉर्म,* सेज, नयी दिल्ली.

मनु गोस्वामी (2004), *प्रोड्यूसिंग इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

वी. गीता और एस. वी. राज़ादुरै (1998), *नॉन ब्राह्मन मिलेनियम,* साम्य पब्लिकेशन, कोलकाता.

शाहिद अमीन (1984), 'गाँधी एज़ महात्मा : गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट, ईस्टर्न यूपी, 1921.', रणजीत गुहा (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़ 3 : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसायटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुमंत बनर्जी (2000), *द डेंजरस आउटकास्ट,* सीगल, कोलकाता.

सूज़न बेली (2001), *कास्ट, सोसायटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया फ्रॉम द एट्टींथ सेंचुरी टू मॉडर्न एज,* खण्ड 4, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

हैरल्ड फ़िश्चर-टाइन ऐंड माइकल मान (सम्पा.) (2004), *कोलोनियलिज़म ऐंड सिविलाइज़िंग मिशन, कल्चरल आइडियोलॅजी इन ब्रिटिश इण्डिया,* विम्बलडन पब्लिशिंग कंपनी, लंदन.

हेलेन एस. डेयर (1900), *पण्डिता रमाबाई : द स्टोरी ऑफ़ हर लाइफ़,* मॉगर्न ऐंड स्कॉट, लंदन.